विवादों के घेरे में
उपेन्द्रनाथ अश्क

हिन्दी के विवादग्रस्त जीवन्त रचनाकार उपेन्द्रनाथ अश्क समय-समय पर अपने साहित्य तथा व्यक्तित्व के साथ-साथ सामान्य रूप से जीवन और कला सम्बन्धी अपने विचार विभिन्न समालापों में प्रकट करते रहे हैं।

अब तक इन समालापों के चार खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं—'कहानी के इर्द-गिर्द', 'गिरती दीवारें : दृष्टि प्रतिदृष्टि' 'आमने सामने', 'हम कहें : आप कहो'।

'विवादों के घेरे' में इसी श्रृंखला का पांचवां ग्रन्थ है, जिसमें युवा कथाकार रवीन्द्र कालिया ने अश्क से एक लम्बे समालाप के दौरान उनके जीवन और साहित्य के बारे में तीखे और तेज़ सवाल किये हैं और अश्क के व्यक्तित्व के उस पहलू को आंकने का प्रयास किया है, जो साठ वर्षों की साहित्य साधना के दौरान निरन्तर विवादों से घिरा रहा है। अश्क के जवाब उतने ही स्पष्ट और निर्भीक हैं, और पाठकों को अनेक विषयों पर गहराई से सोचने पर विवश करते हैं।

'विवादों के घेरे में—के आमुख के रूप में अश्क की ७०वीं वर्षगांठ पर प्रकाशित लक्ष्मीकान्त वर्मा का अन्तरंग आत्मीय संस्मरण इस पुस्तक की एक और विशेषता है।

विवादों के घेरे में

रचनात्मक उत्तरदायित्व के भीतर और बाहर

हिन्दी के विवादग्रस्त जीवन्त रचनाकार उपेन्द्रनाथ अश्क समय-समय पर अपने साहित्य तथा व्यक्तित्व के साथ-साथ सामान्य रूप से जीवन और कला सम्बन्धी अपने विचार विभिन्न समालापों में प्रकट करते रहे हैं।

अब तक इन समालापों के चार खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं --'कहानी के इर्द-गिर्द,' 'गिरती दीवारें : दृष्टि-प्रतिदृष्टि,' 'आमने-सामने' और 'हम कहें : आप कहो।'

'विवादों के घेरे में' इस श्रृंखला का पाँचवाँ ग्रन्थ है, जो अश्क के व्यक्तित्व और कृतित्व के उस पहलू को खोलता है, जो निरन्तर विवाद पैदा करता रहा है।

विवादों के घेरे में

उपेन्द्रनाथ अश्क
के साथ
रवीन्द्र कालिया
का समालाप

नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद

VIVADON KE GHERE MEN

[A long interview with Upendra Nath Ashk
by Ravindra Kalia]

प्रथम संस्करण : १९८६
पुनर्मुद्रित : २००२

मूल्य : १२५.००

प्रकाशक
नीलाभ प्रकाशन
५–ख़ुसरो बाग़ रोड, इलाहाबाद

मुद्रक

प्रकाशकीय

हिन्दी साहित्य में इण्टरव्यू यानी समालाप हाल के वर्षों में एक नयी और चुनौती-भरी विधा के रूप में उभर कर सामने आये हैं। स्व. कमलेश द्वारा लिये गये विभिन्न लेखकों के साक्षात्कारों से शुरू हो कर हाल में प्रकाशित अज्ञेय के समालापों तक यह विधा काफ़ी फ़ासला तय कर आयी है और इस क्रम में अश्क के समालापों ने इसमें महत्वपूर्ण योगदान किया है।

किसी भी कृति अथवा कृतिकार के प्रति नासमझी या उसकी ग़लत व्याख्या अथवा आलोचना की अपर्याप्तता एक ओर तो पाठकों में लेखक तथा उसकी कृति के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न करती है, दूसरी ओर लेखक को अपना पक्ष पाठकों के सामने रखने के लिए उकसाती भी है। ऐसी हालत में समालाप की विधा आलोचना की पूरक बनती है और लेखक को उजागर करने का काम करती है। समालापों में व्यक्त विचार यद्यपि आलोचना अथवा जीवनी की प्रचलित परिभाषा में नहीं आते, तो भी वे आगे आने वाले आलोचकों के लिए नये दृष्टिकोण और समीक्षा-सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं।

समालापों में व्यक्त विचारों की विशेषता यह होती है कि वे इण्टर्व्यू लेने वालों के प्रश्नों की प्रतिक्रिया में उत्पन्न होते हैं और अक्सर बहुत सारे बुनियादी विषयों के बारे में लेखक की मान्यताएँ अनायास प्रकट हो जाती हैं। यह 'अनायास अभिव्यक्ति' इसलिए भी बहुत महत्वपूर्ण होती है कि इससे लेखकों के साहित्य-सम्बन्धी, और साहित्येतर--दोनों तरह के मन्तव्यों का पता चलता है और यों कृति और कृतिकार के पीछे छिपा मनुष्य--दोनों खुल कर सामने आ जाते हैं।

इस विधा में अब तक अश्क की चार पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं--'कहानी के इर्द गिर्द,' 'गिरती दीवारें : दृष्टि प्रतिदृष्टि,' 'आमने सामने' और 'हम कहें : आप कहो।'

'विवादों के घेरे में' इसी समालाप-श्रृंखला का पाँचवाँ ग्रन्थ है, जिसमें युवा कथाकार रवीन्द्र कालिया ने अश्क से एक लम्बे समालाप के दौरान उनके जीवन और साहित्य के बारे में तीखे और तेज़ सवाल किये हैं और अश्क के व्यक्तित्व के उस पहलू को आँकने का प्रयास किया है, जो साठ वर्षों की साहित्य-साधना के दौरान निरन्तर विवादों से घिरा रहा है। अश्क के जवाब उतने ही स्पष्ट और निर्भीक हैं और पाठकों को अनेक विषयों पर गहराई से सोचने पर विवश करते हैं।

'कहानी के इर्द गिर्द' जब प्रकाशित हुआ था तब अश्क ने अपने जीवन के ६० वर्ष पूरे करके ६१ वें वर्ष में क़दम रखा था। 'विवादों के घेरे में' १६८६ में प्रकाशित हो रहा है, जब अश्क अपनी पचहत्तरवीं वर्षगाँठ मना कर ७६ वें वर्ष में कदम रख चुके हैं। इन १५ वर्षों में अश्क का शरीर भले ही छीज गया हो, पर उनके व्यक्तित्व की आक्रोश-भरी व्यग्रता और जीवन्तता वैसी-की-वैसी है।

'विवादों के घेरे में' के आमुख के रूप में अश्क की ७०वीं वर्षगाँठ पर प्रकाशित लक्ष्मीकान्त वर्मा का अन्तरंग, आत्मीय संस्मरण इस पुस्तक की एक और विशेषता है।

--प्रकाशक

जीने का अपना अन्दाज़

लक्ष्मीकान्त वर्मा

१४ दिसम्बर १६८० को हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग में अश्क जी का ७०वाँ जन्मोत्सव प्रयाग विश्वविद्यालय के तत्कालीन हिन्दी विभागाध्यक्ष, डॉ. रघुवंश के सभापतित्व में मनाया गया था। शुरू ही में लक्ष्मीकान्त वर्मा से बोलने के लिए कहा गया तो उन्होंने आध-पौन घण्टे में अश्क जी के सम्बन्ध में अपने संस्मरण सुनाये। उत्सव के बाद अश्क जी ने कहा, 'यार लक्ष्मीकान्त, अगर मुझे मालूम होता, तुम यह सब कहोगे तो मैं तुम्हारा भाषण टेप कर लेता कि सनद रहे।'

वर्मा जी ने हँस कर कहा—'अश्क जी लिख देंगे। क्यों घबराते हैं। मुकरेंगे नहीं।' और सचमुच जो कुछ उन्होंने वहाँ कहा था, उसे लिपिबद्ध करके वे एक दिन ले आये। यही लेख थोड़ा संक्षिप्त हो कर अश्क जी के ७१वें जन्म-दिवस पर 'राष्ट्र-भाषा सन्देश' के अश्क-विशेषांक में छपा। अब वह यहाँ अविकल प्रस्तुत है।

❒

अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध लेखक स्टीवेन्सन के विषय में अनेक प्रकार की किवदन्तियाँ प्रचलित थीं, जिनमें से सबसे दिलचस्प किंवदन्ती यह थी कि वह जो कुछ भी लिखता था, उसे दसियों बार माँजता-सँवारता था और प्रत्येक शब्द और उसके पर्यायों को कई बार बदलता था। 'बिरजिनेस प्यूटेस्के' में संगृहीत लेखों को पढ़ने से जो प्रभाव मेरे दिमाग़ पर पड़ता था, उससे मुझे लगता था कि वह किसी बड़े ही भारी-भरकम, गम्भीर व्यक्तित्व का स्वामी होगा, लेकिन जब मैंने उसकी जीवनी पढ़ी तो मैं चकित रह गया, क्योंकि वह तो नीले रंग की जर्सी और पैण्ट पहने, ख़च्चर पर बैठ कर घूमने वाला निहायत ही ज़िन्दादिल और हँसी-मज़ाक करने वाला मस्त-कलन्दर था। दोनों चित्रों में अन्तर था। उसके लेखों के पढ़ने से जो चित्र बनता था, वह एक तरह का था और उसके बारे में पढ़ने पर जो चित्र बनता था, वह पहले से नितान्त भिन्न, एकदम दूसरी तरह का। लेकिन मैं दोनों के प्रति नतमस्तक था, क्योंकि दोनों में रसात्मकता और जीवन्तता के दर्शन होते थे।

मेरे अग्रज और मित्र श्री उपेन्द्रनाथ अश्क में और स्टीवेन्सन में और कोई साम्य हो, या न हो, एक साम्य तो है ही और वह यह कि अश्क जी भी मँजाई में उसी तरह विश्वास करते हैं, जैसे स्टीवेन्सन। मैंने कई बार मज़ाक में कहा भी है कि लेखक दो तरह के होते हैं। रईस तबियत के, जो मन आये पर लिखते हैं और बहुत मेहनत नहीं करते और कहार जात के, जो केवल मँजाई में ही विश्वास करते हैं। अश्क कहते हैं --'क्या करूँ भाई, मैं हिन्दी में परदेसी हूँ। हिन्दी मेरी मातृभाषा नहीं। तुम जो भी भाषा लिखोगे, हिन्दी होगी। मेरे साथ वैसा नहीं है। सँभाल कर, माँज-सँवार कर तो लिखना ही होगा।'

इस पर जब मैंने रईस लेखकों और मज़दूर लेखकों की बात कुछ और बढ़ायी तो कुछ गम्भीर और कुछ अर्द्ध-गम्भीर लहजे में बोले, 'भई, तुम जीनियस हो। एक बार लिखते हो और दोबारा नहीं देखते। तुम्हारे जीनियस का मैं कायल भी हूँ, पर तुम साथ में थोड़े मज़दूर भी होते, अपने लिखे पर दोबारा-सहबारा नज़र भी डालते, माँजते-सँवारते तो जाने क्या न लिख जाते !' फिर हँसे, 'लेकिन भगवान सब को सब कुछ नहीं देता। तुम्हें प्रतिभा दी है तो सन्तुलन नहीं दिया। बेहद लापरवाही दी। मुझे प्रतिभा नहीं दी तो भयंकर अर्ज (urge) और सन्तुलन दिया। तुमने अपनी प्रतिभा को रईसी के मुग़ालते में नष्ट कर दिया, मैं श्रम-साधना और सन्तुलन से प्रतिभाशाली कहाने लगा।'

अश्क जी की इस बात को मैंने गाँठ बाँध लिया। कोशिश करने पर भी मँजाई वाला बोर काम तो मुझसे नहीं हो सका, लेकिन यह ज़रूर है कि अपनी लापरवाहियों के प्रति मैं सतर्क हो गया हूँ। यह सतर्कता अश्क जी की देन है, वरना मैं वास्तव में इतना लापरवाह रहा हूँ कि यदि वह सतर्कता मुझमें न आती तो मेरी इतनी किताबें भी नहीं छप पातीं।

○

अश्क जी का स्नेह मुझे अनेक रूपों में मिला है। यद्यपि मैं 'परिमल' का सदस्य रहा हूँ और 'परिमल' की परम्परा के अनुसार हँसने, व्यंग्य करने और बातचीत में खिंचाई करने की काफ़ी आदत रही है, लेकिन अश्क जी ने मेरी बात का कभी बुरा नहीं माना, यहाँ तक कि जब कभी मैंने उनकी कटु आलोचना की है तो भी वे मुझसे न तो नाराज़ हुए और न उन्होंने कभी शिकायत ही की।

अश्क का उपन्यास 'बड़ी-बड़ी आँखें' मुझे 'आलोचना' से समीक्षार्थ मिला। जिन लोगों ने मुझे समीक्षा करने के लिए पुस्तक दी, उन्हें विश्वास था कि मैं उनके उपन्यास की कटु आलोचना करूँगा। उपन्यास मैं पढ़ गया। बड़ा ही रोचक उपन्यास लगा। आलोचना करने की जगह जब मन में प्रशंसा आने लगी तो मैंने उपन्यास वहीं रख दिया। उन दिनों अश्क जी प्रगतिशील ख़ेमे में थे और 'परिमल' और 'प्रगतिशील लेखक संघ' की रगड़-झगड़ का वातावरण था। मैं अश्क जी की आलोचना करना चाहता था, लेकिन आलोचना का आधार मिल नहीं रहा था। उपन्यास का केन्द्र एक आश्रम-जीवन को ले कर था। आश्रम-जीवन की कटु आलोचना उपन्यास में थी और मैं अश्क जी के विचारों से सहमत भी था, लेकिन चाहिए थी असहमति। यह सोच ही रहा था कि सहसा उपन्यास में 'कम्यूनिटी किचन' शब्द पर नज़र गयी और सहसा आश्रम-जीवन और कम्यून के जीवन के चित्र सामने आ गये। दोनों में ही रेजिमेण्टेड लाइफ़ होती है। अश्क जी ने चूँकि आश्रम के जीवन की घुटन पर लिखा था और नियम और अनुशासन में बँधे जीवन की आलोचना थी, इसलिए सहसा दिमाग़ कम्यून के जीवन की विसंगतियों पर चला गया। मैंने कम्यून के जीवन की कटु आलोचना करते हुए आश्रम के जीवन को भी धुन दिया और उपन्यास की प्रशंसा करने के साथ दो-चार हाथ कम्यून-जीवन पर लगा दिये। पढ़ने वाला यदि सतर्क न हो तो वह उस आलोचना को अश्क जी की आलोचना समझ कर उपन्यास की निन्दा भी मान सकता है। मेरी समीक्षा जब छपी तो कम्यून के जीवन की आलोचना पढ़ कर कई लोगों ने लेख की सराहना की। मुझे दृढ़ विश्वास हो गया कि जब अश्क के विरोधी इतने प्रसन्न हैं तो अश्क तो बहुत ही नाराज़ होंगे। इत्तफ़ाक से एक दिन कॉफ़ी हाउस में अश्क मिल गये। मैं दंग रह गया जब मेरी समीक्षा से प्रसन्न हो कर उन्होंने ज़ोरों से हाथ मिलाया और बोले--'तुम्हारी काट की

दाद देता हूँ। जिस प्वाइंट से तुमने उपन्यास की आलोचना का पहलू निकाला है, वह सबके बस की बात नहीं। मैंने समष्टिपरक उपन्यास लिखा है, तुमने उल्टे तर्क से उसे व्यक्तिपरक सिद्ध कर दिया। मैं तुम्हारी काट का कायल हो गया।'

मैं हक्का-बक्का अश्क जी का मुँह देखने लगा। पहली प्रतिक्रिया तो मेरे मन पर यह हुई कि अश्क जी मुझे मूर्ख बना रहे हैं, लेकिन जब वे मेरे लेख की बारीकियाँ बताने और मेज़ पर बैठे सभी लोगों से कहने लगे तो मुझे लगा कि वास्तव में उन्हें मेरी कटु आलोचना पसन्द आयी है। मैंने कहा--'हुज़ूर, आप इस कटु आलोचना पर भी इतने प्रसन्न हैं, मुझे हैरत है।' अश्क बोले--'तुमने बात ही ऐसी पैदा की है, जो दाद के काबिल है।' कोई दूसरा बोला--'इतनी कड़वी आलोचना आपके किस काम आयेगी ?'

अपनी सहज, मस्ती-भरी, मुद्रा में अश्क जी ने कहा--'मैं इसका भी इस्तेमाल कर लूँगा।'

और उन्होंने जैसा कहा था, वैसा किया भी। डॉ. मदान द्वारा सम्पादित 'उपन्यासकार अश्क' में मेरी वह आलोचना जस-की-तस छपी है।

मैंने अपने कई एक दोस्तों को अपनी इसी कटु आलोचना-प्रवृत्ति के कारण नाराज़ किया था। मैं सोचता था कि अश्क भी नाराज़ ही होंगे, क्योंकि लेखक अपनी आलोचना तो सह लेता है, किन्तु अपनी कृति की आलोचना नहीं सह पाता। अश्क का यह मत है कि आलोचना तीखी-से-तीखी हो, लेकिन उसमें अगर बात पैदा कर दी गयी है तो दुश्मन को भी उसकी दाद देने से नहीं चूकना चाहिए। वे खुद भी नहीं चूकते। अपने चालीस वर्ष के लेखन के अनुभव में मुझे अकेले अश्क ही ऐसे मिले, जिन्होंने कटु आलोचना की भी दाद दी है। मैंने इससे भी यह सबक लिया कि आदमी जब तक बात से बात नहीं पैदा करता, तब तक अच्छी-से-अच्छी बात भी बेकार होती है। बात मामूली ही क्यों न हो, एक अन्दाज़ से कही गयी हो तो वह महत्वपूर्ण हो सकती है।

इसी सिलसिले में एक घटना और याद आती है। एक दिन लम्बे अर्से तक भूमिगत रहने के बाद अश्क जी स्वर्गीय सुरेन्द्रपाल के साथ मुझे कॉफ़ी हाउस के बाहर मिल गये। मैंने इतने दिनों तक ग़ैरहाज़िर रहने की शिकायत की तो बोले, 'उपन्यास को पाँचवीं बार दुहरा रहा था।' मैंने आश्चर्य से कहा--'पाँचवी बार !' बोले, 'हाँ भई, तबियत नहीं मानती। मैं तो विशेष पत्र तक तीन बार लिखता हूँ, यह तो उपन्यास है।'

बरजस्ता मुझे बात सूझ गयी। मैंने कहा--'आपकी सिर्फ़ एक ही रचना ऐसी है, जिसे आपने बहुत माँजा, लेकिन वह ज्यों-की-त्यों रही।'

अश्क बोले--'कौन-सी ?'

मैंने कहा--'सुरेन्द्रपाल !'

एक पुरज़ोर ठहाका कॉफ़ी हाउस की फ़िज़ा में गूँज गया।

सुरेन्द्रपाल भी हँस पड़ा। फिर हम लोग भीतर गये। कॉफ़ी पी। लेकिन जैसे मेरा यह जुमला उनको बार-बार याद आता रहा, वे सोच-सोच कर हँसते रहे।

○

अश्क से बात करने का धीरज हर किसी के पास नहीं हो सकता, क्योंकि वे ज़रा-ज़रा-सी बात की तफ़सील में जाने लगते हैं। वस्तुतः अश्क इतिहास-विश्वासी हैं। उनकी हर कहानी के पीछे इतिहास है, हर नाटक के पीछे इतिहास है, हर कविता के पीछे इतिहास है। मुसीबत यह होती है कि उनकी रचना अच्छी भी होती है तो उसके इतिहास को जानने का धीरज सब में नहीं हो सकता। फिर अश्क की रचना-प्रक्रिया भी अलग-अलग कृति के साथ अलग होती है। मैं बड़े धीरज से उनकी सारी बातें सुनता हूँ, क्योंकि उस सब को सुनते-सुनते मैं भीड़ में अश्क के उस चेहरे को पहचानने की कोशिश करता हूँ, जो सेहत ख़राब होने के बावजूद लिखते रहने से बाज़ नहीं आता और लिखता है तो आमोख़्ता के अन्दाज़ में--यानी लिखे हुए को दोबारा पढ़ते हुए--यों कहिए कि ज़बान की सलासत से ले कर मुहावरे की तराश और मज़मून की बलाग़त का ख़याल रखते हुए। उनका वह थका हुआ चेहरा और प्रत्येक शब्द को खराद पर चढ़ा कर देखने का धीरज ! दाद देनी ही पड़ती है।

○

अश्क की बड़ी विशेषता यह है कि उन विषयों पर बहस करने में उन्हें तनिक भी थकान नहीं महसूस होती, जिन्हें उन्होंने पढ़ रखा हो और ठीक उसी तरह, जो नहीं पढ़ा, उसके बारे में भरी सभा में अपनी अज्ञानता स्वीकार करने में भी उन्हें संकोच नहीं होता। वे जितने तपाक के साथ बहस करते हैं, उतनी ही बेबाकी के साथ यह भी कह सकते हैं कि यार, मैंने यह विषय नहीं पढ़ा, इसलिए मैं इस पर बात नहीं कर सकता। यह बौद्धिक ईमानदारी कम लोगों में पायी जाती है। यहाँ तो ऐसे-ऐसे घाघ लोग हैं कि किताबों का नाम भर सुन लिया है तो बस काफ़ी है। झूठ-मूठ हवाला दे कर वे उसका नाम जपते हैं और चाहते हैं कि अनाप-शनाप वे जो कुछ भी कहें, उसे प्रामाणिक मान लिया जाय। अश्क के चरित्र का यह पक्ष मेरे सामने तब उद्‌घाटित हुआ, जब मैंने उनका साक्षात्कार लिया। बातचीत के दौरान मैंने उनसे सौन्दर्य-शास्त्र सम्बन्धी कई प्रश्न पूछे। भारतीय और पाश्चात्य सौन्दर्य-बोध के तुलनात्मक पक्ष पर भी प्रश्न किये। अश्क ने साफ़ कह दिया कि उन्होंने यह सब उस तरह नहीं पढ़ा है, जिस तरह मैंने पढ़ा है। अश्क मूलतः सृजनशील प्रक्रिया में अपनी स्वानुभूति से बहुत-सी चीज़ें जानते हैं, लेकिन उनका शास्त्रीय विवेचन नहीं करते। कहते भी हैं कि वे मूलतः सृजनशील लेखक ही बने रहना पसन्द करते हैं। शास्त्रीय परिभाषाओं के फेर में वे नहीं पड़ते।

साहित्यकार के रूप में यह मानना पड़ेगा कि अश्क अपने कठिनतम परिश्रम और कष्टसाध्य लेखन के बल पर खड़े हैं। मातृभाषा पंजाबी, लेखक उर्दू के, लेकिन जब हिन्दी में लिखने लगे तो उसी धूम से उन्होंने साहित्य सृजा, जिस धूम-धाम से कोई प्रतिभा-सम्पन्न सृज सकता है। अश्क का कहना है कि ये यूनिवर्सिटी के अध्यापक या तथाकथित आलोचक उनकी कृतियों का मूल्यांकन या विवेचन करें या न करें, हिन्दी में वे इतना लिख जायेंगे कि उसको बिना पढ़े हिन्दी का कोई भी इतिहास पूरा नहीं होगा। वस्तुतः बात भी सही है। लेखक को अपनी रचना और रचनाधर्मिता पर विश्वास रखना चाहिए, न कि इस बात पर कि कौन क्या कहता है। और यह कहना पड़ेगा कि अश्क को अपने लेखन पर अटूट विश्वास है। दास्तोयवस्की, डिकेन्स, मा'म आदि ऐसे ही लेखक थे। इन्होंने पत्रकारिता के वज़न पर साहित्य लिखा है और यह सही है कि अपने जीवन-काल में इन्हें वह सम्मान नहीं मिला, जो मिलना चाहिए, लेकिन वे इतना लिख गये कि साहित्य का ऐतिहासिक विवेचन करते समय कोई उनके लेखन की उपेक्षा नहीं कर सकता।

।। एक संघर्षशील व्यक्तित्व।।

अश्क का जीवन प्रारम्भ से ही संघर्षशील रहा है। यद्यपि अध्यापकी में, पत्रकारिता में, रेडियो में, फ़िल्मों में और छिट-पुट छोटी-मोटी नौकरियों में उनका प्रारम्भिक जीवन बीता था, फिर भी जबसे अश्क ने स्वतन्त्र लेखन का संकल्प किया, तब से तीस-पैंतीस वर्ष बीत गये, किसी प्रकार की छोटी-मोटी नौकरी भी उन्होंने नहीं की। केवल मसि-जीवी हो कर जीवन का निर्वाह करना साधारण साहस का काम नहीं है। इसके लिए वीरता, सहनशीलता और नितान्त बेलाग हो कर काम में लगे रहने की साहसिकता चाहिए। ये सारी चीज़ें उस समय तक नहीं आतीं, जब तक कि संघर्ष का मनोबल और कुछ कर गुज़रने की प्रबल इच्छा-शक्ति आदमी में न हो। अश्क में यह मनोबल और इच्छा-शक्ति प्रचुर मात्रा में है। सुबह से ले कर रात बारह बजे तक अश्क अपने काम में लगे रहते हैं। बीच-बीच में बातचीत उसी से होती है, जो उनके पास चला जाता है, अन्यथा वे अपने कलम, काग़ज़ों और फ़ाइलों से जूझते रहते हैं। मसिजीवी मैं भी हूँ, लेकिन मैं उतनी संलग्नता और नियमित रूप से, जी-जान लगा कर, उनकी तरह काम नहीं कर पाता। शायद इसलिए भी कि अश्क अपनी कृतियों की मँजाई ज़्यादा करते हैं या शायद इसलिए भी कि वे जो कुछ लिखते हैं, उसे एक सजग पाठक के रूप में दोबारा-सहबारा पढ़ते हैं। कारण जो भी हो, मेहनत और संघर्ष दोनों ही उनमें इतना अधिक मात्रा में है कि वे अपने लेखन को सहज रूप में स्वीकार नहीं कर पाते। छोटी-छोटी बातों को भी चुनौती से रूप में पहले सामने रख लेते हैं, फिर उस पर काम करने लगते हैं। 'गिरती दीवारें' लिखते समय कहीं मन में था कि

चेतन का सर्वाङ्ग जीवन वे लिखेंगे। ऐसे संकल्प प्रायः साहित्यिक जीवन में लेखक लेते ही रहते हैं और कालान्तर में उनको बदल भी देते हैं, लेकिन अश्क ने जो संकल्प आज से चालीस-पचास साल पूर्व लिया था, उसे पूरा करने में आज भी संलग्न हैं। 'गिरती दीवारें,' 'शहर में घूमता आईना,' 'एक नन्हीं किन्दील,' 'बाँधो न नाव ठाँव' आदि उपन्यास उसी संकल्प की श्रृंखला में लिखे गये हैं और आजकल वे उसका पाँचवाँ और अन्तिम खण्ड लिखने में संलग्न हैं। यह निर्वाह-शक्ति हर लेखक में नहीं होती। अश्क में यह अन्य लेखकों की अपेक्षा सबसे ज़्यादा है।

o

प्रयाग में अश्क से मेरी भेंट १९५२-५३ में साहित्यकार संसद में हुई थी। नीलाभ उन दिनों बच्चा था। अश्क संसद भवन छोड़ चुके थे। ख़ुसरो बाग़ रोड के किराये के मकान में रह रहे थे। कहीं से कोई भी आर्थिक आधार नहीं था। स्वास्थ्य भी ख़राब था। फ़िल्मी दुनिया में दो साल गुज़ार कर आये थे। परिवार और रहने का जीवन स्तर ऐसा नहीं था कि जो सामान्य हो, स्तर सामान्य से ऊपर ही था, लेकिन इस सबका निर्वाह वे उस समय भी अपने लेखन से ही करते थे। उन दिनों अश्क लेखकों को दावतें भी ज़्यादा देते थे। प्रायः गोष्ठियाँ भी उनके यहाँ होती रहती थीं और मेहमान भी आते रहते थे। आज अश्क ने साहित्यिक गोष्ठियाँ समाप्त कर दी है। घर में मेहमानों के हिसाब का भी अब पता नहीं चलता, लेकिन तब यह सब जग-ज़ाहिर था। मुझे मालूम है कि कैसे-कैसे संघर्ष उस समय उनके साथ आ उपस्थित होते थे। हम दोनों के सामान्य मित्र थे वाचस्पति पाठक। प्रायः उनकी ज़बानी बहुत-सी बातें मुझे मालूम होती रहती थीं। अश्क ने उन संघर्षशील दिनों को कैसे झेला होगा, इसकी कल्पना मैं कर सकता हूँ, लेकिन उन दिनों भी अश्क के चेहरे पर शिकन नहीं होती थी। वे हमेशा हँसते-मुस्कराते नज़र आते थे और हम लोगों के हँसी-मज़ाक में योग देते थे। उन दिनों भारती और अश्क में गहरी दोस्ती भी थी और साहित्यिक स्तर पर सैद्धान्तिक विरोध भी था, लेकिन अश्क के व्यक्तिगत व्यवहार में कभी तल्ख़ी नहीं आती थी। वे सारी बातों को हमेशा हल्के-फुल्के ढंग से गुज़र जाने देते थे।

आज अपनी उसी संघर्षशील शक्ति के बल पर अश्क ने 'नीलाभ प्रकाशन' जैसा संस्थान तो खड़ा ही कर रखा है, साथ ही अपने श्रम और संघर्ष से एक बँगला भी इलाहाबाद की अच्छी आबादी में ख़रीद लिया है। यह सब अश्क ने अपने कलम के सहारे ही किया है। लेखन से भी इतना कुछ किया जा सकता है, इसकी मिसाल अश्क ने हम लोगों के सामने रखी है। एक परदेसी के रूप में जो व्यक्ति इलाहाबाद में आश्रय लेने आया था, उसने अपनी कठिन साधना

और परिश्रम से यहीं बैठे-बैठे इतना कुछ केवल लिखने के बल पर बना लिया तो वह मामूली बात नहीं है। अपने कर्म के प्रति निष्ठा और संयम-नियम की परिपक्वता से ही फल मिलता है। अश्क ने 'नीलाभ प्रकाशन' को स्थापित करने में लिखने से ले कर प्रकाशन और बिक्री तक के दायित्व को ज़िम्मेदारी के साथ निभाया है। अपनी अस्वस्थता की हालत में भी प्रकाशन के प्रारम्भिक दिनों में उन्होंने किताबों का बैग लिये हुए देश के तूल-अर्ज़ में दौरे किये हैं और अपनी पुस्तकें बेची हैं। यह सब काम करना और साथ ही अपने साहित्य का अनुपात और स्तर न गिरने देना कठिन कार्य है।

संघर्षशीलता में जोड़-तोड़ और स्थितियों के विश्लेषण से नये-नये सन्दर्भों को विकसित करने में भी अश्क का दिमाग़ काफ़ी तेज़ है। अपनी विपरीत परिस्थितियों को अनुकूल बना लेने में और बनी हुई अनुकूल परिस्थितियों को एक क्षण में विपरीतता में बदल देने में भी अश्क माहिर हैं। कभी-कभी तो आश्चर्य होता है कि इतना सब तन्त्र-मन्त्र वे कर कैसे लेते हैं, लेकिन वहाँ शायद उनका पंजाबी चरित्र अपनी पूर्ण क्षमता दिखाता है। वह विशेषता, व्यावहारिकता, अकड़ और उसके साथ-साथ मिज़ाज का सन्तुलन देश के और किसी हिस्से में नहीं मिलेगा। यह विशेषता केवल पंजाब के पानी में है कि वह एक साथ विरोध और समर्थन, संघर्ष और सृजन को निभाता चलता है। हिन्दी में एक परदेसी लेखक के रूप में प्रवेश कर कृतित्व के स्तर पर साहित्यिक मूल्यों से कभी न गिरना और साथ ही इतना व्यावहारिक होना कि अपनी रचना से ही इतनी बड़ी संस्था बना लेना, फिर दुनियादारी इतनी कि मकान से ले कर ईमान तक की रक्षा करते रहना, यह उस संघर्ष का परिणाम है, जिसे अश्क ने बचपन से झेला है। 'छठा बेटा' नामक नाटक का लेखक ही इस संघर्ष को जी सकता है और उसके फलों का उपभोग भी कर सकता है।

।। बीमार सेहत और ज़िद्दी मिज़ाज।।

अश्क प्रायः अपने स्वास्थ्य की शिकायत करते रहते हैं। कुछ लोग निरन्तर सेहत की ख़राबी की बात सुन कर मुँह बनाते हैं। कुछ लोगों ने उनकी इस बीमारी को ले कर लतीफ़े भी गढ़ रखे हैं। लेकिन वास्तव में वे आये दिन अस्वस्थ रखते हैं। उनके अस्वस्थ रहने का कारण बहुत दिनों तक मेरी समझ में नहीं आता था, लेकिन जब से मैं स्वयं बीमार रहने लगा हूँ, मैं अश्क के दर्द को समझता हूँ। वास्तव में अश्क के अस्वस्थ रहने का कारण उनकी टी॰ बी॰ की पुरानी बीमारी तो है ही, साथ ही उनकी अत्यधिक परिश्रम करने की आदत और कुछ मामलों में हद दर्जे की ज़िद्दी तबियत भी है। जितनी शक्ति है, जब आदमी उससे ज़्यादा श्रम करेगा तो स्पष्ट है, इसका प्रभाव उसके स्वास्थ्य पर पड़ेगा। इस प्रकार, जितनी शक्ति है, उससे ज़्यादा की चुनौतियाँ स्वीकार करना और फिर

अत्यधिक ज़िद के साथ मामूली-मामूली बातों में भिड़ जाना और जब तक वांछित नतीजा हाथ न लग जाय, तब तक चैन की साँस न लेना, अश्क की फ़ितरत-ए-कामिल है। फिर यह ज़िद और इस ज़िद को पूरा करने की जद्दो-जहद अच्छे-से-अच्छे आदमी को अस्वस्थ बनाने के लिए काफ़ी है। इस आधारभूत शक्ति को जब वे साहित्यिक-सृजन में लगाते हैं तो वृहदाकार उपन्यास लिखा जाता है; उसी शक्ति को जब प्रकाशन में लगा देते हैं तो 'नीलाभ प्रकाशन' जैसी संस्था खड़ी हो जाती है; जब वही शक्ति घर को बनाने में लगती है तो जायदाद खड़ी कर देती है और जब परिवार में लगती है तो पहली पत्नी से जन्मे पुत्र और पुत्रवधू और पोतों, नीलाभ जैसे आधुनिक सम्वेदना वाले लेखक और कवि तथा उसकी पत्नी और बच्चों, स्वयं में एक समर्पित जीवन बिताने वाली कौशल्या और उनके विक्षिप्त भाई जैसे व्यक्तियों को एक साथ ख़ुशहाली से ज़िन्दगी बिताने के लिए एक घाट पर इकट्ठा कर देती है। अश्क को जहाँ साहित्य की अनेक विधाओं में लिखने का व्यसन है, वहीं विरोधी स्थितियों को भी ज़िन्दादिली के साथ निभा ले जाने का गुर्रा है। यूँ कहिए कि उनकी मूल प्रवृत्ति कठिनाइयों के बीच जीने और जीते रहने की जिजीविषा है।

अश्क की ज़िद के कई नमूने मैंने देखे हैं। मकान को ले कर एक साथ कई मुकदमे अश्क लड़ते रहे थे। ख़ुद वकालत करने के बाद उन्होंने वकालत प्रारम्भ की थी, इससे उनका दिमाग़ कानूनी स्तर पर भी बराबर तेज़ी और बारीकी के साथ चलता है। एक दौर था, जब वे मुकदमेबाज़ी के पीछे पड़ गये तो क्या धूप, क्या बारिश, क्या सर्दी--घर और कचहरी एक किये रहे। दुश्मन को हर दाँव पर मात देने की कसम ही खा बैठे। ख़ूब जी खोल कर लड़े। उन मुकदमों का नतीजा पूछने का साहस नहीं हुआ, क्योंकि पूछने पर वे हाँ और ना में तो उत्तर देते नहीं, वे हमेशा कहानी की तर्ज़ में दास्तान बताने लगते। यही ज़िद साहित्यिक छींटाकशी और टख़ना-खिंचाई में भी काम देती है। एक ज़माने में एक प्रगतिशील लेखक उनके जिगरी दोस्त थे। किसी बात पर उनसे अनबन हो गयी। उन्होंने अश्क के ऊपर छींटाकशी के रूप में कहीं किसी कहानी के प्रकारान्तर से हवाला दे दिया। फिर क्या था, अश्क ने कम-से-कम दस गुने सूद के साथ मुआवज़ा चुका दिया। ठीक इसी तरह, जब 'परिमल' की ओर से या कुछ 'परिमल' के लोगों ने मिल कर 'निकष' निकाला तो उसी ज़िद में उन्होंने 'संकेत' का प्रकाशन शुरू कर दिया और 'संकेत' के दो वृहदाकार अंक निकाल डाले। कहीं किसी ने अश्क के कवि होने पर कुछ सन्देह व्यक्त किया और कुछ व्यंग भी कस दिया तो अश्क ने जैसे हर साल कम-से-कम एक काव्य-संग्रह छापने की कसम ही खा ली। तब से ले कर आज तक में उन्होंने सैकड़ों कविताएँ लिख डालीं। अश्क की यही ज़िद जहाँ एक ओर उन्हें एकदम ऊपर ले जाती है, वहीं दूसरी ओर कभी-कभी उनसे कुछ घटिया रचनाएँ भी लिखवा देती है। यह सृष्टि ही द्वन्द्वात्मक है।

हर वस्तु का विलोम उसके ही पर्यावरण में होता है। अच्छा हो तो बुरा भी कहीं उस के पास ही होगा। अश्क के पूरे व्यक्तित्व में जहाँ ज़िद, इच्छाशक्ति के रूप में व्यक्त होती है, वहीं कहीं-कहीं वह मात्र हठ को व्यक्त करती है।

।। लीला-भाव, नाटकीयता और कर्मशीलता।।

लीला-भाव मनुष्य के जीवन का एक बड़ा ही नैसर्गिक तत्व है। पूरा जीवन जिस कसौटी पर कसा जाता है, वह है कर्म। कुछ कर्म मनुष्य परमार्थ के लिए करता है, कुछ स्वार्थ के लिए ओर कुछ नितान्त लीला-भाव से प्रेरित हो कर ! लीला-भाव में नाटकीयता और एक प्रकार के विनोद-भाव (प्लेफ़ुल मूड) का भी अंश होता है। अश्क के व्यक्तित्व में यह लीला-तत्व अपने अजीब रंग में मौजूद है। यही उनके जीवन को रंगीन बनाता है और पूरे व्यक्तित्व पर एक लास्य का भाव झीने रूप में डाल देता है। कुछ लोग जो इस लीला-भाव को नहीं समझ पाते, वे अश्क को ग़लत भी समझ लेते हैं। लेकिन अश्क के मनोबल, इच्छाशक्ति, जिजीविषा और अहम्भाव के गूढ़ रहस्य के साथ-साथ उनके खुले व्यक्तित्व को जो नहीं समझ पाते, वे अश्क को ग़लत भी समझते हैं, लेकिन उनकी ग़लत समझ का प्रभाव अश्क पर नहीं पड़ता। वरना कोई दूसरा व्यक्ति होता तो उसका कलम अवरुद्ध हो जाता और वह अपनी दुकान बढ़ा कर कभी का चला गया होता। वही ज़िद जो कभी-कभी अश्क को हल्का-फुल्का चित्रित करती है, वही कहीं उनके व्यक्तित्व की वह ऊर्जा भी है, जो निरन्तर लिखते रहने और संघर्ष करते रहने की प्रेरणा देती है। अश्क कहते भी हैं कि यह सारा विस्तार, यह सारा संस्थान, जो उन्होंने अपने चारों ओर बना लिया है, उसे वह एक मिनट में छोड़ कर फिर नंगे और निहंग भी हो सकते हैं। कोई अश्क की इस बात पर विश्वास करे-न-करे, मैं करता हूँ। जिस आदमी में खिलन्दरापन, प्रबल हठ और लीला-भाव हो, वही यह कह सकता है। अभी दो वर्ष पहले अश्क दिल्ली में थे, जब आकाशवाणी और दूरदर्शन में उनके मानद प्रोड्यूसर नियुक्त होने की घोषणा हुई। उनके पास वहाँ ज़मीन का एक टुकड़ा था। उनके जी में आयी, इलाहाबाद में इतने वर्ष बिता लिये, कुछ दिन दिल्ली में रहा जाय और वहाँ के साहित्यकारों से मज़ा लिया जाय। सो मकान बनवाने का फ़ैसला किया। लड़कों ने सहमति दी। 'नीलाभ प्रकाशन' की एक ब्रांच दिल्ली में खोलने का ख़याल आया और मकान बनवाने में जुट गये। साल भर में सर्दी-गर्मी की परवाह न करते हुए मकान बनवाते रहे। तभी जब मकान बन कर तैयार हुआ, नीलाभ बी.बी.सी. के किसी कम्पीटीशन में बैठा, चुन लिया गया और उसने तत्काल लन्दन जाने का फ़ैसला किया। तभी बड़े भाई ने, जिनसे अश्क ने काफ़ी कर्ज़ लिया था, कोई बात कह दी। मकान में पाँव भी नहीं रखा था कि अश्क ने तय किया उसे फ़ौरन बेच देंगे। दोस्तों-मित्रों ने लाख समझाया कि दिल्ली में फिर कभी मकान नहीं बन

पायेगा। नीलाभ ने भी कहा, 'मैं आ कर रहूँगा।'

'तीन साल इसे कौन देखेगा ,' अश्क ने कहा, 'तुम्हारी अनुपस्थिति में मुझे तो इलाहाबाद जाना पड़ेगा।'

'तीन साल के लिए किसी किरायेदार से अनुबन्ध कर लीजिए।' नीलाभ ने सलाह दी।

'यह अस्सी हज़ार रुपया और इतनी मेहनत मैंने किरायेदारों की सहूलत के लिए सर्फ़ की है ?' अश्क बोले। महीने भर में ग्राहक मिल गया। सख़्त बुख़ार की हालत में टैक्सी में बैठ कर अश्क कचहरी गये। सभी काग़ज़ात पूरे किये और मकान बेच कर इलाहाबाद आ गये।

अश्क के व्यक्तित्व का यह पक्ष भी बहुत महत्वपूर्ण है।

।। घर की चिन्ता : सहनशीलता।।

अश्क कवि भी हैं, उपन्यासकार भी और नाटककार भी। प्रायः जो यह सब होता है, वह सद्गृहस्थ नहीं हो पाता। उसकी दुनिया दूसरी होती है। उसके जीवन के मूल्य कहीं इतने असन्तुलित हो जाते हैं कि पूरा जीवन ही एकांगी हो जाता है। सन्तुलन नष्ट हो जाता है और सामान्य स्तर विशिष्टता के अहंकार और अद्वितीयता की भूख के कारण छूट जाता है। यानी जीवन में ऐसी विसंगतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, जो उसे असाधारण बना देती हैं। निराला इसके जीवन्त प्रमाण हैं। यह सही है कि उस विसंगति ने उन्हें बहुत कुछ ऐसा दिया, जो अन्य कवियों और लेखकों को नहीं मिल सका, लेकिन उसी के साथ निराला के जीवन के साथ बहुत कुछ ऐसा भी जुड़ा, जो जुड़ना नहीं चाहिए था। अश्क इस अर्थ में ज़्यादा सावधान रहने वाले व्यक्ति हैं। यही कारण है कि जहाँ अश्क के व्यक्तित्व में सृजन की शक्ति है, वहीं संरक्षण भी वर्तमान है। जहाँ नितान्त एकांगी हो कर वे लिखने-पढ़ने में सब कुछ भूल जाते हैं, वहीं घर की चिन्ता भी वे बड़ी सहनशीलता के साथ करते हैं। अभी कुछ दिन हुए एक विवाह में अश्क अपने दो पोतों के साथ आये थे। मैंने मज़ाक में कहा--'आप तो अकेले हैं, प्रकाशक कहाँ है ?' मेरा मतलब कौशल्या जी से था। हँस कर बोले, 'प्रकाशक के बिना नहीं आया। दो-दो प्रकाशक साथ हैं।' और उन्होंने अपने पीछे आते हुए, दो लम्बे, गोरे तरुण पोतों की ओर संकेत किया और 'हँस कर बोले--'अब ये 'नीलाभ प्रकाशन' का भी प्रतिनिधित्व करते हैं और हमारा भी।'

अश्क की इस बात में भारतीय सद्गृहस्थ की चरम-आत्मोपलब्धि बोल रही थी। एक सद्गृस्थ की यही कामना होती है कि जीवन भर अपने पौरुष और संघर्ष से जो कुछ भी अर्जित करे, उसे वह बिना किसी लोभ या अमर्ष के अपने पुत्रों को दे दे। पौत्रों और पर-पौत्रों को देने का सौभाग्य सबको नहीं मिलता। अश्क को यह सौभाग्य मिला है। पत्नी है तो कर्मठ है। बहुएँ हैं तो आदर्श,

गुणशील-युक्त और पौत्र हैं तो आज्ञाकारी, तेज़ और सुन्दर। यह अश्क के व्यक्तित्व का एक ऐसा पहलू है, जो उनकी असाधारण शक्ति को नितान्त सगुण और सजीव बनाता है।

अश्क ने तीन विवाह किये। कौशल्या उनकी तीसरी पत्नी हैं, जिनसे एक मात्र सन्तान है नीलाभ। पहली पत्नी से उमेश। अश्क के व्यक्तित्व का यह सन्तुलन है कि कहीं थोड़ा भेद-भाव भी नहीं दिखेगा। स्वयं कौशल्या को उन्होंने अपने आदर्शों में ढाल लिया है या कौशल्या ने अश्क को अपने आदर्शों में ढाल लिया, कहना कठिन है, लेकिन सत्य यह है कि उमेश और नीलाभ के आचरण और व्यक्तित्व में कहीं से भी कोई भेद नहीं दिखता। नीलाभ में थोड़ी चंचलता अवश्य है, किन्तु उमेश गम्भीर और मौन रहने वाला व्यक्ति है। अश्क जी की उदारता और सहनशीलता ऐसी है कि दोनों को समभाव से सन्तुलित रख कर अपना घर उन्होंने एक सुन्दर आशियाना जैसा बना रखा है। अपने लिखने-पढ़ने के बीच भी वे परिवार की छोटी-से-छोटी बात की चिन्ता करते हैं और हर व्यक्ति की देख-भाल करते हैं। कभी-कभी घण्टों अश्क ने अपनी इस छोटी-सी गृहस्थी की भी चर्चाएँ की हैं। कैसे वह सन्तुलन बनाये रखने में अपनी उस पुत्री की भी चिन्ता करते हैं, जिसे उन्होंने एम.ए. (ऑनर्स) तक पढ़ा दिया, लेकिन पत्नी से मन न मिलने के कारण, जिसे वे साथ नहीं रख सके। अश्क ने उसकी भी बात की है और बताया है कि कैसे उसकी शिक्षा-दीक्षा की उन्हें चिन्ता रहती थी और जब तक वह विद्यालय में लेक्चरर नहीं लग गयी, वे हर पहली को उसे रुपये भेजते रहे। अश्क के व्यक्तित्व का यह पहलू भी महत्वपूर्ण है। जहाँ लिखने-पढ़ने की कर्मठता है, यार-दोस्तों की दोस्ती है, प्रकाशन की व्यावसायिकता है, वहीं एक कुशल गृहस्थ का अदम्य पुरुषार्थ भी उनके जीवन का महत्वपूर्ण अंग है। प्रायः लेखकों के जीवन के इस पक्ष की ओर लोगों का ध्यान कम जाता है। या जाता भी है तो वे इस छानबीन में ऐसी विसंगतियाँ ढूँढने लगते हैं, जिन्हें वे लेखक के जीवन से पूर्वग्रह के साथ जोड़ कर उसे महान बनाने की चेष्टा करते हैं। अश्क के साथ यह नहीं है। स्वयं कौशल्या जी ने 'दो धारा' में अश्क जी के विषय में जो कुछ लिखा है, उससे अश्क के व्यक्तित्व का सर्वथा नया पक्ष सामने आता है।

अश्क की सहनशीलता भी अपने में एक गुण है, जो प्रायः बड़े लेखकों में नहीं मिलता। घर में अश्क जहाँ सबकी चिन्ता करने वाले उदार-चेता और योगक्षेम का भार वहन करने वाले लोगों में से हैं, वहीं वे अपने साले की उद्दाम प्रवृत्तियों को भी बड़ी सहनशीलता के साथ वहन करते हैं। कौशल्या अपने भाई के विक्षिप्त व्यवहार से खिन्न हो सकती हैं, लेकिन अश्क के चेहरे पर शिकन तक नहीं आती। वे उनके भी कार्य-कलाप को बड़े रस और दिलचस्पी के साथ बताते हैं। वे भी उनकी गृहस्थी के अंग हैं। प्रायः उनके ये साले अपने में मस्त

रहते हैं, पर विक्षिप्त हैं, कभी ख़ासा परेशान कर देते हैं। स्वयं ही नहीं, अश्क ने बेटों, बहुओं, पोतों तक को सहनशीलता के साथ उनसे बर्ताव करना सिखाया है। इस सहनशीलता में अश्क का जीवट और उनका शील-वात्सल्य तो है ही, साथ ही वह दायित्वबोध भी है, जो प्रायः लेखक होने के नाते लोग भूल जाना चाहते हैं। यही कारण है कि अश्क कभी अपने को महान नहीं कहते। वे सामान्य जीवन के पक्षधर हैं। अपनी लेखनी में भी उन्होंने कभी महानता से प्रेरित हो कर कोई चरित्र नहीं उठाया है। उन्होंने हमेशा निम्न-मध्यवर्गीय जीवन को अपनाया है और हमेशा उसी को अपने कथा-साहित्य में अनेक रूपों में प्रस्तुत किया है। मिलने पर भी कभी अश्क ने यह प्रभाव डालने की कोशिश नहीं की कि वे महान और विशिष्ट हैं। शायद इसीलिए उन्होंने मध्यवर्ग से जुड़े हुए मूल्यों की रक्षा भी बड़ी सावधानी से की है। और मध्यवर्ग का मूल मूल्य-बोध है एक सुनियोजित और संयोजित सन्तुलित परिवार, उसके विकास और उसकी समृद्धि की चिन्ता ओर साथ ही अपनी साख, मर्यादा और इज़्ज़त को बचाये रखने की कोशिश और उससे भी ज़्यादा अपनी और परिवार की प्रतिष्ठा और उसकी आन के लिए जीवन की बाज़ी लगाने में भी संकोच न करने की ज़िद ! अपनी ख़राब सेहत के बावजूद अश्क इतनी चिन्ता कर लेते हैं, यही उनकी विशेषता है।

।। मानवीय सम्वेदना और सहानुभूति।।

अश्क-चरित्र के जहाँ इतने रूप हैं, वहीं उनके किरदार का एक बहुत बड़ा पक्ष है--मानवीय सम्वेदना। मुझे इस प्रकार की कई घटनाएँ याद हैं, जिनमें उनके चरित्र का यह पक्ष उभरा है। उनमें से एक घटना दूधनाथ सिंह को ले कर है। दूधनाथ सिंह ने प्रेम किया और सहसा एक स्वतन्त्र मसिजीवी होने के साथ गृहस्थमय जीवन भी व्यतीत करने का संकल्प लिया। समाज का जो गठन है, उसमें कठिन परीक्षा के ऐसे क्षणों में कुछ ही लोग होते हैं, जिनकी सहानुभूति मिल पाती है। अश्क को दूधनाथ की परेशानी की सूचना मिली। विवाह में अड़चन थी। अश्क ने अपने बँगले में सम्पन्न करा दिया। विवाह के चन्द दिन बाद ही दूधनाथ को टी. बी. का प्रचण्ड प्रकोप हुआ। मुझे अच्छी तरह याद है कि उस निराले-निरालम्ब दिनों में अश्क ने कैसे दूधनाथ को इलाहाबाद के टी.बी. अस्पताल में भरती कराया। कैसे दूधनाथ महीनों वहाँ रहे और कैसे किन मुसीबतों में दूधनाथ का सबसे बड़ा बच्चा पैदा हुआ। अश्क लूकरगंज से फल और दूध और दवा आदि ले कर मीलों दूर अस्पताल जाते थे। ख़ुद मरीज होने के नाते जब पहुँचने में असमर्थ होते थे तो कौशल्या जी से, उमेश से और नीलाभ से सामान भिजवाते थे। बीमारी के बाद भी काफ़ी दिनों तक अश्क ने दूधनाथ सिंह को जैसे अपने परिवार का अंग ही बना लिया था। विश्वविद्यालय में उनको नियुक्ति दिलाने में भी अश्क को मैंने दौड़ते-धूपते देखा है। उनके मकान को

मिलिट्री ने लेना चाहा तो अश्क जा कर ब्रिगेडियर से मिले और मकान नहीं जाने दिया। कन्फ़र्मेशन के समय दूधनाथ सिंह को एक प्रकाशित पुस्तक की ज़रूरत थी। अपनी पुस्तक के लिए ख़रीदे हुए काग़ज़ पर सिर्फ़ दस दिन में अश्क ने उसकी 'निराला आत्महन्ता आस्था' जैसी बड़ी पुस्तक छाप दी। अश्क की ज़िदों में से एक ज़िद का रूप यह भी है, जिसे वह निःस्वार्थ भाव से करते हैं और नितान्त मानवीय सम्वेदनाओं से जुड़ कर करते हैं। उसी दूधनाथ से नाराज़ हो जाते हैं और एक दिन उसके घर कभी न जाने की कसम खा लेते हैं, तो फिर कभी नहीं जाते।

इस प्रकार मैंने अश्क को सुरेन्द्रपाल की बीमारी के दिनों में भी देखा है। सुरेन्द्रपाल एक बहुत ही महत्वाकांक्षी व्यक्ति था। लोगों का कहना है कि केन्द्रीय शिक्षा निदेशालय के अन्तर्गत केन्द्रीय कार्यालयों में हिन्दी शिक्षक के रूप में सुरेन्द्रपाल की नियुक्ति अश्क ही ने करायी थी। सुरेन्द्रपाल का कविता संग्रह 'शीत भीगा भोर' और उसका प्रसिद्ध उपन्यास 'लोक लाज खोई' अश्क ने 'नीलाभ प्रकाशन' से प्रकाशित भी किया। अश्क की इच्छा थी कि वे सुरेन्द्रपाल को धीरे-धीरे एक प्रकाशक भी बना दें, लेकिन बीच ही में सुरेन्द्रपाल को डिप्रेशन का रोग हो गया और दिल्ली में उसने आत्महत्या करके अपने प्राण ही दे दिये। एक घटना समाप्त हो गयी, लेकिन इस पूरे दौर में मैंने अश्क को सुरेन्द्रपाल के लिए बेहद चिन्तित और परेशान देखा है। सुरेन्द्रपाल की मृत्यु के बाद उनके परिवार को भी सँभालते और उसके लिए भी चिन्ता करते हुए मैंने अश्क को देखा है। मैं नहीं जानता कि इस बीच अश्क ने कितनी आर्थिक सहायता सुरेन्द्रपाल को दी, लेकिन यह स्पष्ट है कि यदि इतना गहरा लगाव उनका सुरेन्द्रपाल के प्रति न होता तो शायद सुरेन्द्रपाल इतनी तेज़ गति से उभर कर आते भी नहीं।

घर-परिवार, अड़ोस-पड़ोस में, ख़ास कर सागर-पेशे में रहने वाले परिवारों, यहाँ तक कि 'नीलाभ प्रकाशन' में छोटे-मोटे काम करने वालों की मुसीबत-परेशानी में भी अश्क मुस्तैदी से शामिल होते हैं। एक बार तो जेल से किसी गम्भीर जुर्म में सज़ा पाया हुआ कोई व्यक्ति काम की ग़रज़ से अश्क के पास आया। अश्क ने उसे 'नीलाभ प्रकाशन' में रख लिया। लोगों ने पूछा भी कि यह आप क्या कर रहे हैं। सज़ायाफ़्ता आदमी है, कभी कुछ भी कर सकता है। अश्क ने कहा--'होगा यार, आदमी है, गुनाह किया होगा। आज आदमी बन कर रहना चाहता है--मौका चाहता है--दो उसे।' लोग अपने यहाँ किसी को रखते हैं तो उसके चाल-चलन का प्रमाण ढूँढते हैं। चाहते हैं पाक-साफ़ और ईमानदारी का प्रमाण मिलने पर उसे रखें, लेकिन अश्क सहज-विश्वासी आदमी हैं, यह सब नहीं देखते। मात्र मानवीय सम्वेदनाओं से प्रेरित हो कर उन्होंने उसे नौकरी दे दी।

ऐसे में मार भी खाते हैं, पर मार खाने को वे पार्ट ऑफ़ द गेम समझते हैं।

एक लेखक थे मेहन्दीरत्ता। दूसरे थे सत्येन्द्र शरत। एक ज़माने में दोनों ही इलाहाबाद में थे। अच्छा लिखते थे। विद्यार्थी थे। विश्वविद्यालय में पढ़ने के साथ-साथ अपनी जीविका भी उपार्जित करते थे। मुझे याद है, उनकी परेशानियों के दिनों में अश्क ने अपने नये प्रकाशन से उनकी किताबें छापीं। बदले में उन्हें आर्थिक सहायता दी। 'शिमले की क्रीम' और 'पुरानी मिट्टी : नये ढाँचे' दो कथा-संग्रह मेहन्दीरत्ता के थे। सत्येन्द्र शरत का एक नाटक 'कुन्द माला' और कथा-संग्रह उन्होंने छापा। शानी के लिए वे परेशान रहे हैं। उसका पहला कथा-संग्रह भी उन्होंने छापा है। जो भी हो, अश्क में अपने से उबर कर दूसरों के लिए भी कुछ करने का रोग है। ऐसे कई मित्रों से अश्क को तकलीफ़ भी पहुँची है, लेकिन इससे नये लोगों के लिए कुछ करने से वे बाज़ नहीं आते।

अश्क के रहने के ढब को जो ऊपरी ढंग से देखेगा, उसे लगेगा कि अश्क में ये गुण नहीं होंगे, किन्तु यदि ज़रा-सा ठहर कर, उनके उस रंगीन रहन-सहन, ठाट-बाट के भीतर कोई झाँकेगा तो ऐसी अनेक घटनाएँ उन्हें मिलेंगी। अश्क अपनी इन घटनाओं को बहुत छिपा कर रखते हैं। उन्हें ज़ाहिर नहीं होने देते। कभी किसी से उनकी चर्चा भी नहीं करते। ऊपर से वे यह ढब बनाये रहते हैं, जैसे यह कोरी भावुकता है, लेकिन उस सख़्त खोल के भीतर नर्मी उनके व्यक्तित्व में ठीक वैसे ही है जैसे अखरोट के कड़े छिलके के भीतर दूधिया गिरी होती है। अश्क के व्यक्तित्व का यह पक्ष बहुत कम लोग जानते हैं, लेकिन यह भी उनके रंगीन व्यक्तित्व का एक ऐसा पक्ष है कि जिसके बिना चित्र पूरा ही नहीं होता।

।। कुछ व्यक्तिगत संस्मरण ।।

यह लेख अधूरा रह जायेगा यदि मैं इसमें उन संस्मरणों का भी हवाला न दूँ, जो मेरे नितान्त व्यक्तिगत हैं और जिन्होंने मुझे बराबर अश्क के प्रति स्नेहिल बनाया है। मेरा जीवन जैसा बीता है, सभी जानते हैं, क्योंकि न तो मैं अश्क की तरह ज़िद्दी प्रकृति का आदमी हूँ और न मैं उतनी मेहनत ही कर पाता हूँ। स्वतन्त्र लेखन से इतनी बड़ी गृहस्थी को चलाने का काम ठीक वैसा ही है, जैसे बालू में नाव खेने का। उतार-चढ़ाव, फ़ाका-मस्ती सब साथ लगी रही। एक बार 'दिनमान' के लेख का पारिश्रमिक आने में देर हो गयी। बड़े लड़के की बोर्ड की अन्तिम तारीख़ थी। कहीं कोई सूरत नज़र नहीं आ रही थी। परेशानी में डूबा हुआ मैं कॉफ़ी हाउस में बैठा था कि जाने कहाँ से दोपहर में ही अश्क जी आ गये। मेज़ पर आ कर बैठे। अपनी आदत के मुताबिक उन्होंने दो-चार हँसी-मज़ाक की बातें कीं, लेकिन मैं चूँकि भीतर से चिन्तित था, इसीलिए उनकी बातों में दिलचस्पी नहीं ले पा रहा था। हर मज़ाक का जवाब कुछ यूँ ही 'हाँ', 'ना' में

दे देता था। परेशान हो कर अश्क ने कहा--'यार, मामला क्या है, तुम इतने डल क्यों हो ?' मैंने बात को ज्यों-त्यों टालना चाहा, लेकिन अश्क बाज़ नहीं आये। छेड़-छाड़ कर, उन्होंने पता लगा ही लिया। कॉफ़ी आयी। हमने पी। चलने लगे तो ज़बरदस्ती मुझे अपने साथ दफ़्तर ले गये। मुझे डेढ़ सौ रुपये का चेक दिया। फिर बोले, 'तुम परेशान होगे।' उन्होंने किसी को बैंक भेज कर नकद मँगवाया और मुझे दे दिया। देते समय बोले--'वापस करने की चिन्ता न करना। यह मेरा पैसा है, 'नीलाभ प्रकाशन' का नहीं। इसका किसी से ज़िक्र भी न करना।' मैं हैरत से अश्क को देख रहा था, क्योंकि मेरे सामने अश्क की जो तस्वीर थी, वह रूपाजीवी की थी। पैसे को दाँत से पकड़ने वाले की ! वह दिन है और आज का दिन है। न तो अश्क ने किसी से इस बात का ज़िक्र किया और न पैसा उन्हें अभी तक मिला।

इसी प्रकार एक घटना और है। उन्होंने मुझसे हेमिंग्वे पर एक लेख लिखने के लिए कहा। मैंने सोचा, शायद अश्क के मन में हो कि इसी बहाने डेढ़ सौ रुपये वसूल हो जायँ। मैंने भी सोचा कि लिख दूँ, लेकिन आर्थिक परेशानी इतनी कि रोज़ कुआँ खोद कर पानी पीना पड़ता था। आठ-दस रोज़ बाद सुपरफ़ाईन प्रेस में अश्क अपनी किसी किताब को छपवाने के सिलसिले में रोज़ आने लगे। मेरे घर भी आ जाते थे। जो हो सकता था, चाय-कॉफ़ी हाज़िर होती थी। हालत तो छिपी नहीं थी। एक दिन मैं उनके साथ ही कॉफ़ी हाउस गया तो 'नीलाभ प्रकाशन' से उन्होंने १०० रुपये दिये। फ़ुर्सत मिली। मैंने हेमिंग्वे पर एक छोटी-सी पुस्तक लिख कर उन्हें दी। बीच में क्या बात हुई, मैं नहीं जानता। किसी सिलसिले में मैं उनके घर गया था। अश्क ने हेमिंग्वे की पाण्डुलिपि मुझे लौटा दी। शायद लेखकों की जो सीरीज़ वे छापना चाहते थे, वह उन्होंने त्याग दी थी, या जो भी हो। मैं थोड़ा निराश हुआ, क्योंकि मुझे लगा कि डेढ़ सौ तो पहले के थे ही, अब सौ रुपये और चढ़े। मेरा चेहरा देख कर अश्क बोले--'तुम रुपयों की चिन्ता मत करना। मैंने तुमसे लिखवाया था। नहीं छाप रहा हूँ तो दोष मेरा है। तुम्हें वापस इसलिए कर रहा हूँ ताकि तुम चाहो हो कहीं और छपवा लेना।' यह एक दूसरी तस्वीर थी, जो अश्क की मेरे सामने थी।

एक तीसरी घटना भी है। 'राजस्थान संगीत नाटक अकादमी' ने एक सेमिनार आयोजित किया था, जिसमें अश्क के नाटकों पर एक लेख मुझसे माँगा था। मैंने वह लेख बड़ी मेहनत से तैयार किया। अश्क ने मुझसे कहा था कि लेख मुझे दे देना, उसे मैं टाइप करा दूँगा। एक प्रति मैं अपने इस्तेमाल के लिए रख लूँगा और दूसरी प्रति तुम वहाँ सेमिनार में दे देना, लेकिन अनेक झंझटों और परीशानियों में वह लेख इतना लम्बा हो गया कि लगभग ३० पृष्ठ हो गये और मैं अन्तिम दिन तक लिखता रहा। अश्क ही से पैसा ले कर, जो इसका ही अग्रिम

पारिश्रमिक था, मैं जोधपुर गया। वहाँ मणि मधुकर को मैंने वह लम्बा ३० पृष्ठ का लेख इस आग्रह के साथ दिया कि वह उसे टंकित कराके एक प्रति अश्क को भिजवा देंगे, लेकिन उसकी प्रति न तो उन्होंने मेरे पास भेजी और न अश्क के पास और न ही उन्होंने उसे अपनी पत्रिका में छापा। काफ़ी दिनों तक मुझे कुछ संकोच होता रहा कि अश्क को क्या जवाब दें। अश्क ने मणि मधुकर से भी उसके सम्बन्ध में पत्र-व्यवहार किया, लेकिन कोई नतीजा नहीं निकला। एक दिन मैंने ही अश्क से उसके लिए अपनी शर्मिन्दगी ज़ाहिर की तो अश्क बोले--'काम को समय से न करने का नतीजा है। वक्त से कर लेते तो टाइप हो जाता। तुम्हारी मेहनत भी बेकार न जाती और मेरा भी काम हो जाता।' इतना कह कर अश्क हँसने लगे। बीच में रुपये की कहीं बात ही नहीं की। जैसे उसमें उनका कुछ लगा ही न हो। पता नहीं इन पैसों को उन्होंने किस बट्टे खाते डाला हो, लेकिन असलियत यह है कि यह उस अश्क का व्यक्तित्व है, जिसे प्रायः लोग पैसे के लिए परेशान रहने वाला मानते हैं।

○

दुर्गा सप्तशती में जहाँ देवी के अनेक रूपों को नमस्कार किया गया है, वहाँ दो रूपों का विशेष उल्लेख है 'या देवी सर्वभूतेषु लक्ष्मी रूपेण संस्थिता' और दूसरा है 'या देवी सर्वभूतेषु वृत्ति रूपेण संस्थिता।' लक्ष्मी के साथ ही वृत्ति की प्रार्थना शायद इसीलिए है कि यदि लक्ष्मी के साथ चित्त-वृत्तियाँ स्थिर न हुईं तो उसका कुप्रभाव पड़ता है। अश्क जहाँ लक्ष्मी के साधक हैं, वहीं वृत्तियों के भी अनुशासक हैं। यह उनकी विशेषता है।

आदमी के जीने का एक अन्दाज़ होता है। हर आदमी का अन्दाज़ अलग-अलग होता है। ग़लती हम वहाँ करते हैं, जहाँ हम अपने अन्दाज़ से दूसरों का चरित्र-विश्लेषण करते हैं। मूलतः हमें उनके चरित्रों से उनकी विशेषताएँ विश्लेषित करके निकालनी चाहिएँ। अश्क के जीने का अन्दाज़, उसकी तर्ज़, उसके ढंग, उसके मूल्य सर्वथा भिन्न सन्दर्भों में जुड़ कर निकले हैं, इसलिए उनको तभी समझा जा सकता है, जब उनकी बुनावट को ध्यान में रख कर हम उनकी अच्छाइयों और बुराइयों को जानें। कोई आदमी देवता नहीं होता, लेकिन आदमी होने के साथ-साथ वह कुछ उत्स के क्षण भी जीता है। ये उत्स के क्षण ही महत्वपूर्ण हैं। अश्क के जीवन में भी ऐसे क्षण हैं। इसका साक्षी मैं स्वयं हूँ। यही अन्त में आदमी के व्यक्तित्व में चरित्र की प्रामाणिकता भरता है और शायद यहीं आ कर एक लेखक अपनी रचनाधर्मिता और सह-अनुभूति के नये आयाम विकसित करता है। यही मूल्यवान भी होता है।

मई, १९८१

□□

विवादों के घेरे में

अश्क से रवीन्द्र कालिया की बातचीत

□□

स्व. सतीश चन्द्र श्रीवास्तव (केन्द्र निदेशक, आकाशवाणी, इलाहाबाद) ने अश्क जी की ७०वीं वर्षगाँठ के सिलसिले में आध घण्टे का एक इण्टरव्यू प्रसारित करके टेप अभिलेखागार में भेजने की योजना बनायी। अश्क जी से इण्टरव्यू लेने का भार उन्होंने श्री रवीन्द्र कालिया पर डाला। शायद इसलिए कि नयी युवा पीढ़ी के कथाकार और अश्क जी के वतनी होने के नाते उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के बारे में बातचीत के माध्यम से वे आकाशवाणी के श्रोताओं को कुछ नया दे सकेंगे।

अश्क जी जैसे विवाद-ग्रस्त लेखक से घिसी-पिटी, गुडी-गुडी बातचीत करना कालिया जी को स्वीकार न था। न अश्क जी ऐसा चाहते थे। इण्टरव्यू तो आध घण्टे का प्रसारित होना था, पर चूँकि समालाप-कर्ता बँध कर बातचीत करने को तैयार नहीं थे, इसलिए केन्द्र निदेशक ने सुझाव दिया कि इण्टरव्यू प्रसारित होना है और टेप अभिलेखागार में जाना है, यह बात ज़ेहन में रख कर दोनों निर्द्वन्द्व भाव से बात करें। निश्चय ही आकाशवाणी के लिए आध घण्टे का अंश निकल आयेगा।

मूल बातचीत एक घण्टे में टेप हुई। आकाशवाणी ने उसमें से आध घण्टे का अंश निकाल लिया। बाद में कुछ प्रश्न जोड़े और उनके उत्तर दिये गये। गत दो वर्षों में दो-तीन बार ऐसा हुआ और अब यह इण्टरव्यू लगभग अप-टू-डेट हो गया है। यद्यपि आकाशवाणी का ख़याल जेहन में रहा तो भी कालिया जी ने कई तेज़ प्रश्न पूछे और अश्क जी ने उतने ही तेज़ उत्तर दिये। हमे विश्वास है कि यह साक्षात्कार अश्क जी से किये गये अन्य साक्षात्कारों से कई अर्थों में भिन्न, महत्वपूर्ण, और समकालीन साहित्य पर साठ वर्षों से निरन्तर साहित्य-सेवा में निरत ७५ वर्षीय अश्क के विचारों का आकलन करने वाला है। इस इण्टरव्यू को छापने की अनुमति देने के लिए हम आकाशवाणी, इलाहाबाद के आभारी हैं।

□□

अश्क जी बहुत दिनों बाद आपसे भेंट हो रही है, आप बहुत बीमार और कमज़ोर नज़र आ रहे हैं। ख़ैरियत तो है।

ख़ैरियत नहीं है। बीमारी पीछा नहीं छोड़ रही।

क्या तकलीफ़ है ? आप तो बड़े नियम से रहते हैं। दिल्ली-प्रवास का असर है क्या ?

(हँस कर) क्या बतायें, तुम तो जानते हो, साल भर दिल्ली रहा। 'गिरती दीवारें' का पाँचवाँ संस्करण संशोधित करने की ग़रज़ से गया था। पाँच महीने तो उसी में निरत रहा। फिर मकान बनवाने का चक्कर पड़ गया।

ज़मीन ख़रीद रखी थी वहाँ ?

वर्षों पहले जब इलाहाबाद में मकान ख़रीदा था, दिल्ली में ज़मीन ली थी। वह सरकार ने एक्वायर कर ली। बदले में एक टुकड़ा दिया। वह ऐसे ही पड़ा था। अचानक डी. डी. ए. ने नोटिस दिया कि बनवाओ, वरना वापस करो। तय किया कि दो कमरे बनवा लूँ। आकाशवाणी और दूरदर्शन का प्रोड्यूसर इमेरिटस (मानद प्रोड्यूसर) हो गया था। सरकार दो हज़ार रुपया महीना दे रही थी। सोचा, दो वर्ष दिल्ली में ही रहें।

इलाहाबाद से क्या इतना ही ऊब गये थे ?

इलाहाबाद में रह क्या गया है ? साहित्यिक गतिविधि तो लगभग ठप्प है। अधिकांश पुराने लोग थक गये हैं या गद्दियों पर बैठे मुटा रहे हैं, साहित्य-सृजन से किसी को, लगता है, कुछ लेना-देना नहीं रहा और तुम नये लोग अपने सिवा किसी को सेटते नहीं। फिर प्रकाशन और बिक्री का केन्द्र तो दिल्ली हो गया है।

वहाँ कौन-सा महान लेखन हो रहा है ?

लेखन तो वहाँ भी कुछ वैसा महान नहीं हो रहा, पर लेखकों के लिए वहाँ गुंजाइशें काफ़ी हैं। सोचा था 'नीलाभ प्रकाशन' की एक ब्रांच वहाँ खोल दें। टी. वी. और रेडियो पर नाटक प्रोड्यूस करें।

किये ?

किये !

ज़मीन दिल्ली में कहाँ ली थी ?

ली कहाँ, एलॉट हुई थी, विवेक विहार में। बहुत सुन्दर जगह थी। सो मकान बनवाना शुरू किया। साल पर दुनिया-जहान की बदपरहेज़ी की। जो नहीं खाता

था--खाया, जो नहीं करता था--दौड़-भाग, अनियमित भोजन--सब किया। आम तौर पर ऐसे में मुझे दमा हो जाता है, लेकिन कुछ नहीं हुआ। इसी बीच मेरा छोटा लड़का, जो पन्द्रह वर्षों से प्रकाशन का बोझ सँभाले था और दिल्ली में अपनी रुचि से मकान बनवा रहा था, यूँ ही सरेराहे बी.बी.सी के एक कम्पीटीशन में बैठा। दो हज़ार प्रतियोगियों में दो चुने जाने थे। वह चुना गया। मकान-वकान वैसे ही छोड़ कर लन्दन चला गया। मकान पूरा भी नहीं हुआ था कि उसे बेचने की नौबत आ गयी।

किराये पर चढ़ा देते।

किराये पर चढ़ाने के लिए तो बनवाया नहीं था। फिर अनुपस्थित मकान-मालिक को दिल्ली में कोई पूछता नहीं, लड़के के जाने के बाद यूँ भी मेरे लिए दिल्ली में रहना असम्भव था। सो उसे बेचने का तय किया। अगस्त का महीना, गर्मी बहुत पड़ने लगी थी। बीच में एक दिन रोहतक विश्वविद्यालय में भाषण देने चला गया। जाने क्या बदपरहेज़ी हो गयी। बुख़ार आने लगा। ग्राहक से पेशगी ले चुका था। बुख़ार की हालत में टैक्सी ले कर कचहरी गया। वहाँ का काम ख़त्म किया। विवेक विहार गया। टैक्सी में बैठे-बैठे ठेकेदार को बुलाया, जो लेना-देना था, लिया-दिया और मकान की चाभियाँ ग्राहक को सौंपी। रात को लौटा तो १०३ टेम्परेचर था। पेट भी चलने लगा। उसी हालत में इलाहाबाद आया। ऊपर से सर्दी खा गया। बलग़म दे कर खाँसी आने लगी। दुनिया-जहान की ऐण्टी-बायोटिक दवाएँ लीं। लेकिन 'मर्ज़ बढ़ता गया जूँ-जूँ दवा की' ! नींद ग़ायब, पिंडलियों में ऐंठन, पैरों में जलन। बिस्तर से जा लगा और उठते-बैठते चक्कर आने लगे। भला हो स्टेप्टोपेंसिलिन का। बारह इंजेक्शनों के बाद उठ बैठा हूँ। कमज़ोरी है, सो दूर हो जायेगी।

मगर अश्क जी, ऐसा क्यों है कि आपकी बीमारी पर लोग विश्वास नहीं करते ?

भाई, इसका एक कारण तो यही है कि मैं बीमारी को बहुत लगाता नहीं। अब तुम्हीं देखो--मैं बहुत कमज़ोर हूँ। बीमार भी हूँ। रात-रात भर जागता रहा हूँ। बारह-एक बजे जब लेटता रहा हूँ तो पैर और पिंडलियाँ जलने लगती रही हैं, सारी-सारी रात बरामदे में टहल कर काट देता रहा हूँ। मुझे बहुत तकलीफ़ रही है। लेकिन जो लोग मुझे मिलने आते रहे हैं, उन्होंने हमेशा देखा कि मैं कुर्सी पर बैठा काम कर रहा हूँ। कैसे मानेंगे कि मैं बीमार हूँ। वास्तविकता यह है कि कुर्सी पर बैठने में आराम मिलता है।

आप जब कमरे में आये थे तो बहुत अस्वस्थ लग रहे थे, लेकिन अभी लग रहा है कि आप एकदम स्वस्थ हैं।

नहीं, वह असल में ...

माफ़ कीजिएगा। वैसे अभिनय में भी आपका कोई सानी नहीं।

नहीं, अभिनय इसमें कुछ नहीं है। जब आदमी लेट न सके और कमज़ोरी इतनी हो कि बहुत घूम न सके तो कुर्सी पर तो बैठेगा ही। कुर्सी मेरी गद्‌देदार और आरामदेह है। कुर्सी पर बैठूँगा तो बरबस कुछ-न-कुछ पढ़ूँगा-लिखूँगा। स्वभाव से मैं चंचल हूँ। दिमाग़ ओवर-ऐक्टिव है। निश्चल बैठना या लेटे रहना मेरे लिए यातना है और सच पूछो, सोना भी यातना है। नींद से मुझे ख़ौफ़ आता है।

जब कि आप बराबर शिकायत करते हैं--नींद क्यों रात भर नहीं आती।

इसलिए कि नींद न आने से कमज़ोरी बढ़ती है, पर नहीं आती तो नहीं आती। बारह-एक बजे तक तो लिखता हूँ, बाकी रात बरामदे में घूमता हूँ और सोचता हूँ। दिन को सो जाता हूँ। कई बार बहुत गहरी नींद सोता हूँ। रात के उनींदे की कमी पूरी हो जाती है। स्वस्थ होता हूँ तो रोज़ कसरत भी करता हूँ। तभी लोग कहते हैं कि बीमार नहीं हूँ। पर बीमार तो हूँ। बुख़ार वग़ैरह तो दूर हो गया, पर कमज़ोरी में दमे ने पकड़ लिया है। रात को विशेषकर तकलीफ़ होती है। लेटना मुश्किल। अधमुँदी आँखों के साथ बरामदे में घूमता रहता हूँ। दो-एक बार ऐसे में गिर भी गया हूँ।

आप इलाज क्यों नहीं कराते ?

पुराना रोग है। फिर बुढ़ापा है। बँगलौर के एक वैद्य जी की दवा लगती है। वही मँगायी है। ठीक कर लूँगा। बीमारी के साथ जीना मैंने सीख लिया है।

बीमारी के साथ नहीं, विवादों के घेरे में भी आपने जीना सीख़ लिया है। आपको शायद विवादास्पद बने रहना पसन्द है।

नहीं, पसन्द तो नहीं है।

अपने बारे में तरह-तरह के विवाद आप ख़ुद ही पैदा करते रहे हैं।

इस विषय पर शौनक ने भी मुझसे प्रश्न किया था और मैंने उसे सोलह कारण बताये थे। तुम 'गिरती दीवारें : दृष्टि-प्रतिदृष्टि' में पढ़ लो। यह रेडियो इण्टरव्यू है और इसकी सीमा...

हाँ, सीमा तो है। सोलह कारण बताने लगेंगे तो... (हँसी) ... संक्षेप में ही कुछ कहिए।

संक्षेप में यह कि ऐसा नहीं है। मैं भी आम इंसान हूँ। चुपचाप अपना लिखते रहना चाहता हूँ। झूठे प्रवादों और विवादों से मुझे तकलीफ़ होती है। लेकिन प्रमुख कारण यही है कि मैं किसी प्रवाद का उत्तर नहीं देता। लोग मेरे मुँह पर तरह-तरह की झूठी बातें कह देते हैं। मैं किसी का खण्डन नहीं करता और कई बार तो बढ़ा-चढ़ा कर स्वीकार कर लेता हूँ।

क्यों ?

इसलिए कि मैंने अनुभव से जाना है, लोग जिसे पसन्द नहीं करते, उसके बारे में एक सच गढ़ लेते हैं, जो प्रायः झूठ पर आधारित रहता है। लेकिन उन्हें अपना वही सच पसन्द होता है। आप लाख तरदीद कीजिए, लाख सच्ची बात बताइए, लेकिन वे अपने उस 'सच' को नहीं छोड़ते। आपके खण्डन के बावज़ूद उसका प्रचार करते रहते हैं। मिसाल के लिए मेरे बारे में एक पुराना प्रसिद्ध प्रवाद है कि अश्क जी ने अपनी किताब 'बैंगन का पौधा' राजस्थान में यह कह कर बेच दी कि वह कृषि की पुस्तक है।

इसका ज़िक्र तो प्रायः आता है।

सच तो सिर्फ़ इतना है कि प्रकाशन के शुरू के दिनों में जब मैं बीमार था, मेरी पत्नी राजस्थान के दौरे पर गयी थी। वहाँ जोधपुर में एक अज़ीज़ पन्नालाल व्यास उसे यूनिवर्सिटी ले गये। टीचर्स रूम में उन्होंने अध्यापकों को उसका परिचय दिया कि ये कौशल्या जी हैं, अश्क जी बीमार पड़े हुए हैं, इन्होंने अपना प्रकाशन शुरू किया है और इनकी मदद करनी चाहिए। तब वहाँ बैठे कृषि के अध्यापक बोले, 'हमने तो इनका 'बैंगन का पौधा' अपने विभाग के लिए पहले ही ख़रीद लिया है।' वे उसे कृषि की पुस्तक ही समझे थे। कौशल्या मन-ही-मन हँसी और उसने यह दिलचस्प किस्सा मित्रों को सुनाया और कैसे एक किताब ढाई हज़ार बन गयी, तुमने सुना ही होगा।

कई तरह से सुना है।

जब यशपाल जैसे सीनियर और प्रौढ़ और अनुभवी लेखक ने--प्रकटतः उन दिनों जब वे मुझसे नाराज़ थे--कहा कि सुना है, तुमने अपना कथा-संग्रह बैंगन का पौधा यह कह कर ढाई हज़ार बेच दिया कि वह कृषि की पुस्तक है तो मैंने तरदीद नहीं की, बल्कि कहा कि मैंने तो पाँच हज़ार बेचा था और उन्होंने मेरे हवाले से यही बात लिख भी दी।. . . मैंने एक संस्मरण-संग्रह में सच्ची बात भी कह दी, पर यह प्रवाद तो आज तक चल रहा है। सो मैं कभी ऐसे प्रवादों का खण्डन नहीं करता। यदि मुझ पर ऐसा कोई आरोप लगाता है, जो न मैं कर सकता हूँ, न करने की सोच सकता हूँ तो मैं कभी नहीं कहता कि मैंने ऐसा नहीं किया।

अश्क जी, आपको आरोप लगवाना भी ख़ूब आता है।

अब जो भी तुम समझो। मेरे बारे में प्रवादों और विवादों का प्रमुख कारण यही है।

आपकी बीमारी को ही लें। आप ख़ुद ही कहा करते हैं कि बीमारी आपको फलती है।

बीमारी फलती है, यह नहीं कहता। बीमारी से लाभ उठाता हूँ, यह कहता हूँ।
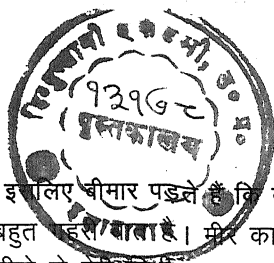
लोग कहते हैं कि आप इसलिए बीमार पड़ते हैं कि कुछ लाभ उठा लें।

लाभ की बात समझो। यह बहुत गहरी बात है। मीर का एक शेर है :

बड़े सलीके से मेरी निभी मुहब्बत में
तमाम उम्र मैं नाकामियों से काम लिया

नाकामियों से काम लेना, बीमारियों और विपत्तियों से लाभ उठाना जीवन की एक कला है ! मैत्री का लाभ सभी उठाते हैं, पर जो इस जीवन-पद्धति में विश्वास रखता है, वह शत्रुताई से भी लाभ उठा लेता है। हाँ, आम आदमी यह नहीं कर सकता, लेकिन कलाकार कर सकता है। बरनार्ड शॉ ने अपने नाटक 'मैन एण्ड सुपरमैन' में कलाकार के बारे में बड़ी कटु, लेकिन सच्ची बात कही है। सच्चा कलाकार भरपूर ज़िन्दगी जीता है--लेकिन ज़िन्दगी के हर अनुभव को--अपनी मूर्खताओं, चतुराइयों, सफलताओं, असफलताओं, कमज़ोरियों, शहज़ोरियों, मसर्रतों, तकलीफ़ों, अपने सुख-दुख, अपने तमाम कड़वे-मीठे अनुभवों को कला में उतार कर पाठकों के आगे पेश कर देता है कि उनमें ग्रहणशीलता हो तो अपना मार्ग प्रशस्त कर सकें। वह नौकरी करेगा, छोड़ेगा, ख़ुशामद करेगा, करवायेगा, रिश्वत देगा, लेगा, तार हिला कर देखेगा और मुश्किलें आसान करेगा और उन्हें निर्ममता से काट भी देगा--उसकी बीवी बीमार पड़ेगी तो उसकी सेवा-सुश्रूषा करेगा, उसके वियोग में हृदय-द्रावक गीत लिखेगा और प्रेमिकाओं को आकर्षित करेगा, वह उनसे निकटतम सम्पर्क करेगा कि उनकी तमाम परम्पराओं के मुखौटे उतार कर उनके गुह्यतम भेदों को जान सके--अपनी मुहब्बत-नफ़रत, स्नेह-उपेक्षा, आकर्षण-विकर्षण--अपनी कोमलतम भावनाओं और भयानकतम भेदों को इस्तेमाल करने से गुरेज़ नहीं करेगा, यदि वह उनके माध्यम से कलापूर्ण रचनाओं की सृष्टि कर सके !--ऐसा ही निर्मम सर्जक अपनी विफलताओं और बीमारियों से लाभ उठा सकता है।

तब लोग ग़लत तो नहीं कहते...

जब लोग ऐसा कहते हैं तो उसका मतलब दूसरा होता है। वे कहना चाहते हैं कि मैंने अपनी बीमारियों का रोना रो कर सरकार से अनुदान प्राप्त किया है, मेरी पत्नी ने कर्ज़ लिया है, पुस्तकें बेचीं अथवा पाठ्यक्रमों में लगवायी हैं।

दरअसल मैं यही कहने में संकोच कर रहा था। क्या यह सही नहीं है ?

गहराई में देखा जाय तो लगभग नहीं। मुझे १९४७ में उत्तर प्रदेश सरकार ने पाँच हज़ार रुपया अनुदान में दिया--कवि निराला के साथ--बीमारी के सिलसिले में। लेकिन उस सन्दर्भ में न मैंने, न मेरी पत्नी ने कोई आवेदन दिया था, न हमें यही पता था कि उत्तर प्रदेश सरकार अनुदान दे सकती है, हमें तो उस ख़बर का भी पता अख़बार से लगा।

सरकार के घर से बिन माँगे तो मिलता नहीं।

यही आश्चर्य हमें हुआ था। पहले तो महादेवी वर्मा का पत्र आया कि 'साहित्यकार संसद' की ओर से मिला है, पर बाद में मालूम हुआ कि होमवती देवी के ज़ोर देने पर उनके मुँह-बोले भाई डॉ. रघुकुल तिलक ने दिलाया था। हाँ, महादेवी वर्मा ने 'साहित्यकार संसद' के लिए उसका अनुचित लाभ उठाया, पर यह कटु प्रसंग है, मैं इसका ज़िक्र नहीं करूँगा। मुझे उस अनुदान का यह लाभ ज़रूर हुआ कि बीमारी से थोड़ा ठीक होने पर पंजाब जाने की बजाय उत्तर प्रदेश आ गया। सोचा कि बिन माँगे मदद मिल सकती है, माँगे पर तो मिल ही जायेगी।

और मिली।

हाँ मिली, लेकिन बीमारी के कारण नहीं। जैसा कि विद्वेषवश केशवचन्द्र वर्मा ने 'सारिका' में लिखा और कमलेश्वर ने छापा था। जब हम इलाहाबाद आ गये तो कौशल्या ने कहीं नौकरी खोजने का प्रयास किया। तब उत्तर प्रदेश बहुत पिछड़ा था और किसी दफ़्तर में महिला का नौकरी करना कठिन था। तभी पाठक जी के एक मित्र अनिरुद्ध पाण्डेय शरणार्थी अफ़सर हो कर इलाहाबाद आये। पाठक जी उन्हें हमसे मिलाने आये। उन्होंने मुझसे कहा कि मैं शरणार्थी रजिस्टर हो जाऊँ तो वे किसी काम के लिए सरकार से ऋण ले कर दे देंगे। लेकिन मैं शरणार्थी नहीं था, क्योंकि मैं जालन्धर का निवासी हूँ और झूठी बात लिखना मुझे स्वीकार नहीं हुआ। जब उन्हें पता चला कि कौशल्या लाहौर की है और उसका पैतृक मकान वहाँ है तो उन्होंने ज़ोर दिया कि वह शरणार्थी रजिस्टर हो जाय। सो वह शरणार्थी रजिस्टर हो गयी और उसने प्रकाशन के लिए ऋण की दरख़्वास्त दे दी। इसमें मेरी बीमारी का कोई ज़िक्र नहीं था। जैसे और शरणार्थियों ने व्यापार के सिलसिले में कर्ज़ लिया, मेरी पत्नी ने भी लिया। दूसरे कई तो सरकार का रुपया उड़ा-खा गये, लेकिन कौशल्या ने समय पर किस्तें चुकायीं और सरकारी नियम के मुताबिक ब्याज में डेढ़ प्रतिशत छूट ली और उत्तर प्रदेश में वह अकेली शरणार्थी है जिसने ऐसा किया। बजाय इसके कि लेखकों को गर्व होता कि उनके एक साथी की पत्नी ने न केवल सरकार का पैसा-पैसा समय से चुकाया, वरन उसका समुचित उपयोग भी किया, इलाहाबाद के क्षुद्र और टुच्चे लेखकों ने तरह-तरह की अफ़वाहें उड़ायीं और लांछन लगाये। मज़े की बात यह है कि परिमलियन और प्रगतिशील, कम-से-कम इस मामले में, एक-दूसरे से पीछे नहीं रहे। रही पाठ्यक्रम में किताबें लगवाने की बात तो वह भी मेरे एक पुराने प्रकाशक ने मेरी बीमारी का उल्लेख कर, पंजाब में लगवायी थीं और हमें पता नहीं दिया था। प्रो. सरनदास भनोत ने मुझे पंचगनी सैनेटोरियम में लिख दिया। इलाहाबाद आ कर हमने मुकदमा कर दिया और किताबें वापस

ले लीं। यदि मेरी बीमारी के कारण किताबें पाठ्यक्रमों में लग सकतीं तो सारे हिन्दी प्रदेश में लग जातीं। इलाहाबाद में कभी लगीं नहीं, और कहीं क्या लगतीं ! लेखक की बीमारी के ख़याल से भी पाठ्य-पुस्तकें तभी लगती हैं यदि कोई प्रकाशक उन्हें छापे। लेखक-प्रकाशक को कोई नहीं पूछता। जब तक यशपाल अपना प्रकाशन करते रहे, उनकी कोई पुस्तक कहीं नहीं लगी। न राजेन्द्र यादव की लगी। जब 'लोकभारती' ने यशपाल की पुस्तकों का वितरण ले लिया और 'नेशनल' ने 'अक्षर' का तो उनकी पुस्तकें निरन्तर पाठ्यक्रमों में लगने लगीं। मुझे तो कुछ विभागीय अध्यक्षों ने स्वयं सुझाव दिया कि मैं अपनी अमुक पुस्तक अमुक प्रकाशक को दे दूँ, लग जायेगी।

लेकिन पुस्तकें तो आपकी भी कहीं-न-कहीं लगती रहती हैं।

बीमारी के कारण नहीं। कुछ ऐसे सहृदय लोगों के कारण, जो आज की भ्रष्ट व्यवस्था में अपवाद-स्वरूप मौजूद हैं। एक बार 'नीलाभ प्रकाशन' का प्रतिनिधि पूना गया। सभा के मन्त्री श्री गो.प. नेने ने शर्त रखी कि हम सभा के वार्षिक उत्सव पर अश्क जी का नाटक मंच पर प्रस्तुत करेंगे, यदि अश्क जी उसका उद्घाटन कर दें तो हम नाटक लगा देंगे। मैं गया। उन्होंने मेरा बहुत आदर-सत्कार किया। मेरा नाटक 'अलग-अलग रास्ते' खेला और पाठ्यक्रम में भी लगा दिया। इसी तरह एक बार डॉ. चन्द्रहासन इलाहाबाद आये। मेरे यहाँ भी आये। उन दिनों मैं शायद अस्वस्थ था। कुछ आर्थिक कठिनाई भी थी। उनसे ज़िक्र किया तो बोले, 'पहले मैं आपके लिए कुछ नहीं कर सका, पर अब मैं केरल विश्वविद्यालय में हिन्दी-विभागाध्यक्ष हो कर जा रहा हूँ। मैं वहाँ ज़रूर आपकी पुस्तक रखूँगा।' हमने तो कोई और पुस्तक सबमिट कर रखी थी। उन्होंने तार दे कर 'बरगद की बेटी' सबमिट करायी और लगा दी। जब तक और जहाँ वे रहे, हमेशा मेरी पुस्तकें रखते रहे। इसी तरह कोल्हापुर विश्वविद्यालय के डॉ. चन्दूलाल दुबे ने हमेशा हमारी सहायता की। इन लोगों से तो बहरहाल परिचय था। दिल्ली विश्वविद्यालय के डॉ. उदयभानु सिंह से मैं कभी मिला भी नहीं था, जब उन्होंने मेरठ में मेरा नाटक 'अलग-अलग रास्ते' लगा दिया। इस बार दिल्ली में 'अंजो दीदी' स्वीकार कर ली, जबकि हमने सबमिट तक नहीं की थी। यही स्थिति रायपुर में 'पत्थर अल-पत्थर' के लगने की है। हमने सबमिट नहीं की थी। डॉ. बाबूलाल शुक्ल ने लगवा दी। इस भ्रष्ट अवस्था में ऐसे सहृदय लोग उँगलियों पर गिने जा सकते हैं। रही सरकारी ख़रीद तो उत्तर प्रदेश सरकार की दस लाख की ख़रीद में किस तरह ज़रा-से उसूल पर अड़ कर मैं मुख्य मन्त्री श्री कमलापति त्रिपाठी से लड़ गया और मेरी पुस्तकों के हज़ारों के आर्डर जाते रहे, इसे तुम भली-भाँति जानते हो।

जानता हूँ और उस हठ पर मैं आपसे झगड़ा भी था। लेकिन यदि आपके

बारे में यह प्रवाद झूठ है तो आप कैसे कहते हैं कि आप बीमारी से लाभ उठाते हैं।

बहुत उठाता हूँ। लेकिन दूसरी तरह। अपनी लम्बी बीमारियों में मैंने कई क्लासिक लेखकों को पढ़ा है। जब मैं लाहौर में एक बार पूरे दो महीने बीमार रहा तो मैंने जे.एम.बैरी और प्रीस्टले के पूरे नाटक पढ़ डाले, पंचगनी में बिस्तर पर लेटे-लेटे मैंने तॉलस्तॉय का 'वॉर एण्ड पीस' और दॉस्तोवस्की का 'ईडियट' पढ़ा। जेन ऑस्टिन के उपन्यास; स्ट्रिंडबर्ग, मैतरलिंक और पिरेन्देलो के नाटक और गुण्टर ग्रास के उपन्यास मैंने बीमारियों ही में पढ़े। अभी इसी बीमारी में शॉ के आठ-दस नाटक पुनः पढ़ डाले।

कैसे लगे ?

जैसे पहली बार लगे थे। शॉ मुझे स्वयं नाटक लिखने की प्रेरणा नही देता, पर ज़िन्दगी को वह ऐसी बेरहमी से उघाड़ता है और ऐसे उपादेय सूत्र देता है कि आदमी चाहे तो ज़िन्दगी की हकीकतें जानने के लिए उनका प्रचुर लाभ उठा सकता है। इसलिए मैं उसे पढ़ता हूँ।... फिर अपनी बीमारियों में बिस्तर पर लेटे-लेटे मैंने अपनी उपन्यासों, कहानियों, नाटकों और एकांकियों के उलझे आधारभूत विचारों की गुंजलकें निकाली हैं। अनेक कविताएँ लिखी हैं।

कविताएँ !

हाँ, अपनी कुछ महत्वपूर्ण कविताएँ मैंने अपनी लम्बी बीमारियों के दौरान लिखी हैं। १९४६ के दिसम्बर में जब मैं बम्बई के के. ई. एम. हस्पताल में भरती था, जिस शाम डॉक्टर ने बताया कि मुझे यक्ष्मा है, मैंने 'दीप जलेगा' शुरू की और लेटे-लेटे बाईस दिन में पूरी कर दी। फिर १९४७ के शुरू में जब मैं पंचगनी के बेल एयर सैनेटोरियम में दाख़िल हुआ और जर्मन डॉक्टर ने मुझे इमरजेन्सी वार्ड में महीना भर तक चुपचाप बिस्तर पर लेटे रहने के लिए कहा और हिलने-डुलने की मनाही कर दी तो मैंने मन-ही-मन अपना खण्ड-काव्य 'बरगद की बेटी' पूरा कर डाला।

बिना हिले-डुले कैसे ?

मैं कहीं लिख चुका हूँ। मैंने डॉक्टर से पूछा था कि मैं हिल-डुल नहीं सकता, पर क्या मैं सोच भी नहीं सकता। उसने कहा--'सोचो तुम जितना मर्ज़ी, हिलो-डुलो नहीं।' याने एग्ज़र्ट मत करो। सो मैंने अपनी पत्नी से कहा कि प्रीतनगर के दिनों का शुरू किया मेरा अधूरा काव्य 'नजमा' लाये और मुझे सुनाये। उसने सुनाया तो मन-ही-मन मैंने उसे आगे बढ़ाना शुरू किया। स्मृति मेरी अच्छी है। दिन भर में जितने बन्द बनाता, शाम को पत्नी को लिखा देता। एक महीने में खण्ड-काव्य ख़त्म हो गया। नाम उसका इसलिए बदल दिया कि उसी नाम की एक फ़िल्म आ गयी जो सितारा के नाच और गानों के कारण हिट

हो गयी। १९५० में जब मैं पीलिया से तीन महीने तक बिस्तर पर पड़ा रहा तो मैंने अपना खण्ड-काव्य 'चाँदनी रात और अजगर' लिखा।

तभी किसी आलोचक ने लिखा था कि अश्क की कविता बीमार मनःस्थिति की कविता है।

हिन्दी के अधिकांश आलोचक-अध्यापक, कुण्ठित कवि या कथाकार हैं। उनसे किसी समझदारी-भरे विश्लेषण अथवा निष्कर्ष की अपेक्षा मूर्खता है। चूँकि मैंने कहीं लिख दिया कि मैं बीमारी के दिनों में कविता करता हूँ तो एक कुण्ठित कवि-अध्यापक ने यह रिमार्क जड़ दिया है। 'चाँदनी रात और अजगर', 'बरगद की बेटी', या 'दीप जलेगा' को स्वयं पढ़ कर देखो कि ये बीमारी की कविताएँ हैं या प्रबल संघर्ष की ? जिन दिनों मैं 'दीप जलेगा' लिख रहा था, वरली (महाराष्ट्र) में किसान आन्दोलन चल रहा था। मुझे उसकी याद आयी। तेलंगाना के आन्दोलन की याद आयी, चेख़व के राज्यक्ष्मा और उसमें पंक्ति-पंक्ति कर अपना प्रसिद्ध नाटक 'तीन बहनें' लिखना याद आया। गोर्की का 'अँधेरे की शक्तियों' के ख़िलाफ़ लड़ना, फ़ूचिक का यातना सहते हुए अन्तिम क्षण तक संघर्ष का दीप जलाये रखना और प्रेमचन्द का अन्तिम दिनों तक बीमारी में लिखने की सोचना याद आया और वह मेरे व्यक्तिगत संघर्ष में समा गया और मैंने लिखा--

नहीं आज ही केवल हमने दीपक बाले
नहीं आज ही केवल हम इस अन्धकार से लड़ने वाले
हमसे पहले पूर्वजों ने--
जब-जब अन्धकार ने ले कर
अपना दल-बल
घेरे डाले--
दीपक वाले !

वाह!

और फिर

अपने वीर्यवान पुरखों-सा
स्वाभिमान से सर ऊँचा कर
उन हाथों से, देने को जो सदा अनुद्यत,
बरबस नित्य अनाचारों छीन कर
लड़ कर नित्य अनाचारों से काटे हैं भरसक मैंने चिर--
अन्धज्ञान के अन्धकार के--
रूढ़िग्रस्त मानव के बन्धन !

यह मैंने तब लिखा, जब राजयक्ष्मा का अचूक इलाज नहीं निकला था और वह

घातक रोग था। ये उद्‌गार , बीमार आदमी के उद्‌गार नहीं, मृत्यु के लड़ने वाले योद्धा के उद्‌गार हैं। कविता 'हंस' में छपी थी तो अमृत के अलावा नागार्जुन, वाचस्पति पाठक, जन के सम्पादक विनोद जी तथा अन्य कई पाठकों के पत्र आये थे। मैथिली बाबू ने उस कविता को अपने वृहद संकलन 'भारत भारती' में स्थान दिया था। यदि कोई निष्पक्ष आलोचक खड़ी बोली के सारे हिन्दी काव्य पर न्यायपूर्वक दृष्टि डाले तो 'चाँदनी रात और अजगर,' 'बरगद की बेटी,' 'दीप जलेगा' जैसे ओज-भरे काव्य हिन्दी में नहीं--न पन्त के यहाँ, न महादेवी के यहाँ, न अज्ञेय और शमशेर के यहाँ। निराला में वह ओज है या फिर कहीं-कहीं मुक्तिबोध में। हिन्दी काव्य में गुटों का संचालन एक ओर पन्त और दूसरी ओर अज्ञेय करते रहे हैं और हालाँकि मेरे आठ काव्य-संकलन छप चुके हैं, लेकिन कभी पन्त या अज्ञेय ने कवि के नाते मेरा नाम तक नहीं लिया और न हिन्दी के भेड़ियाधसानी आलोचकों ने। लेकिन भवभूति अपने लिए ही नहीं, मेरे जैसे किसी 'लोन वुल्फ़' (अकेले भेड़िए) के लिए भी कह गये हैं कि काल की कोई अवधि नहीं और पृथ्वी विपुला है, कभी मेरा समानधर्मा पैदा होगा और मेरे काव्य को उसका उचित दाय देगा।

लेकिन अश्क जी, आपकी रचनाओं के बारे में अक्सर यह कहा जाता है कि आप रचनात्मक स्तर पर अपने कष्टों, संघर्षों और समस्याओं को समय और इतिहास से जोड़ने में असफल रहे हैं।

मैंने अभी 'दीप जलेगा' के सिलसिले में बताया कि कैसे मेरा व्यक्तिगत संघर्ष मेरे जैसे तमाम बुद्धिजीवियों ही नहीं, संसार में ज़ुल्म और अन्धज्ञान की शक्तियों के ख़िलाफ़ लड़ने वालों के संघर्ष से जुड़ गया और जो बात 'दीप जलेगा' के बारे में सच है, वही 'चाँदनी रात और अजगर' और मेरी दसियों कहानियों और उपन्यासों के बारे में सही है। यदि लोगों को वह नज़र नहीं जाता तो दोष मेरा नहीं, उनकी दृष्टि का है। कुछ ऐसी ही बात दूधनाथ सिंह ने ख़ासा ज़ोर दे कर 'निरन्तर' के अपने लेख में कही थी। उन्होंने मेरी अधिकांश उत्कृष्ट कहानियों को इस दलील से काटा कि उनमें लेखकीय दख़लन्दाज़ी नहीं है, कि उनका लेखक सिनिक है, वह ज़िन्दगी को बदलना नहीं चाहता। उसके लिए ज़िन्दगी जैसी भी है, दिलचस्प है और उसे वैसे ही रहना चाहिए, कि उसकी कोई नैतिक असहमति, उसकी कोई इन्वॉल्वमेण्ट उसकी कहानियों में नहीं है, कि वे सूत्रों को सिद्ध करने के लिए लिखी गयी हैं और प्रायः उनका एक ही फ़ार्मूला है।

लेख दूधनाथ का अच्छा है, आपको भले पसन्द न आया हो।

पंजाबी में एक मसल है--छाज तो बोले, छलनी क्यों बोले जिसमें हज़ार छेद। पहले तो दूधनाथ सिंह की कलम से यह बात सुहाती नहीं, जिस लेखक ने एक भी कहानी समष्टि सत्य की न लिखी हो--'न रक्तपात,' न 'आइसबर्ग,' न 'रीछ,' न 'स्वर्गवासी,' न 'शिनाख़्त,' न 'सुखान्त,' जिसकी किसी कहानी में लेखकीय

दख़लन्दाज़ी न हो, न कोई समष्टि सत्य हो, उसे दूसरे क़िसी की क़हानियों पर यह एतराज़ करने का नैतिक अधिकार कैसे है ?

मैंने कहीं लिखा था कि दूधनाथ सिंह अपनी कहानियों के आधारभूत विचार उड़ाते हैं। 'रक्तपात' उन्होंने रमेश बक्शी की कहानी पढ़ कर लिखी, 'रीछ' का आइडिया उन्हें सारोयाँ की एक कहानी और काफ़्का की डायरी से मिला और 'सुखान्त' उन्होंने अहमद हमेश की 'मक्खी' पढ़ने के बाद लिखी। याने उसका स्टाइल उन्होंने वहाँ से लिया। अहमद हमेश उन दिनों इलाहाबाद ही में थे और 'मक्खी' की बड़ी चर्चा थी। हाँ, भाषा दूधनाथ की अपनी है। वे निहायत आक्रोशी, घुन्ने और विद्वेषी आदमी हैं। मेरी बात उन्हें बुरी लगी। दिल में रख ली और निहायत काटती हुई टोन में उन्होंने वह लेख लिखा। लेकिन दिलचस्प बात यह है कि यह दख़लन्दाज़ी वाली दलील भी उनकी अपनी मौलिक नहीं। वह शब्द उन्होंने 'मण्टो की तीस कहानियाँ' पर नीलाभ की लिखी हुई भूमिका से उड़ाया।

शब्दों पर किसी का इजारा नहीं होता। वैसे मुझे लगता है, दोनों ने किसी तीसरे लेखक से उड़ाया होगा। इधर की समीक्षा में तो यह बहुप्रचलित शब्द है।

नीलाभ ने मण्टो की कहानियों की शक्ति को व्याख्यायित करते हुए लिखा था कि मण्टो अपनी हर कहानी में अपने निजी दृष्टिकोण और विचारधारा के साथ, दख़लअन्दाज़ी की हद तक, मौजूद रहता है। अन्य कहानीकारों से मण्टो की तुलना करते हुए मैंने स्वयं हिन्दी कहानी : 'एक अन्तरंग परिचय' में लिखा था--

'मण्टो शिल्प में मॉ'म का अनुवर्ती है और मॉ'म ओ'हेनरी और मोपासाँ का, लेकिन मण्टो मॉ'म की अपेक्षा बेहतर कलाकार है, कारण मेरे ख़याल में शायद यह है कि मॉ'म मानव की नियति के प्रति निरपेक्ष है, सिनिसिज़्म की हद तक। वह केवल उसका दर्शक और चितेरा है, जबकि मण्टो उसमें पूरी तरह मुब्तिला है, इनवॉल्ब्ड है। वह दर्शक नहीं, भोक्ता है।'

नीलाभ ने अपनी भूमिका में इसी इन्वॉल्वमेन्ट को दख़लन्दाज़ी की संज्ञा दी। और दूधनाथ सिंह ने मेरी और नीलाभ की शब्दावली चुरा कर उसी एक गुण से मेरी तमाम कहानियों को परखते हुए (उनके दूसरे तमाम गुणों को मानकर भी नकारते हुए) उन्हें निकृष्ट करार दे दिया।

शब्दों की चोरी का निष्कर्ष काफ़ी दिलचस्प लग रहा है। विचारों की चोरी सुनी थी, शब्दों पर तो सबका अधिकार होता है।

पूरी चिन्तन प्रक्रिया के सिलसिले में कोई लेखक नया शब्द इस्तेमाल करता है तो उसका क्रेडिट उसे दिया जाता है। बहरहाल मैं बात दूधनाथ की कर रहा था। इमरजेंसी से ज़रा पहले उसने एक पत्रिका निकाली थी, जिसमें पहले पृष्ठ पर इन्दिरा गान्धी के ख़िलाफ़ पंकज सिंह की कविता थी। तभी इमरजेंसी लग

गयी। दूधनाथ बुरी तरह भयभीत हो गये। पत्रिका के अंक उन्होंने पलँग के नीचे छिपा दिये और जिसे अंग्रेज़ी में कहते हैं, ओवरनाइट वे प्रगतिशील हो गये और अपनी मेज़ पर उन्होंने लेनिन, माओ, लूनाचास्र्की और लूकाच की पुस्तकें सजा लीं। (दिल्ली में बलराज मैनरा और उनके मित्रों ने यही किया) लेकिन स्वभाव और संस्कारों से, अपने तमाम साथी परिमलियनों की तरह दूधनाथ कलावादी ओर घोर व्यक्तिवादी हैं। लेकिन मेरी कहानियों को परखने का नया प्रगतिशील मापदण्ड उन्होंने निकाल लिया। उन्हीं उल्टी दलीलों से मेरी कहानियाँ बेकार साबित कर दीं, पर स्वयं पिछले दस वर्षों में इसलिए वे एक भी कहानी नहीं लिख सके। प्रकृति और स्वभाव से कलावादी होने के कारण उपादेय प्रगतिशील कहानी उन से बनी नहीं। सो 'हम नकटे हैं तो दूसरों की नाक क्यों साबुत बचे' के अनुसार अद्‌भुत कौशल से उन्होने मुझे भी नकटा साबित कर दिखाया। वास्तव में उन लोगों का शुरू से यह वतीरा रहा है। वे इसी तरह की उल्टी दलीलों से प्रगतिशीलों को व्यक्तिवादी, प्रतिक्रियावादी बताते रहे हैं। ऐसी ही कृपा साही ने शमशेर पर की, मुक्तिबोध पर की और अब दूधनाथ सिंह ने मुझ पर की।

आपकी कहानियों पर जितने लेख अब तक लिखे गये हैं, दूधनाथ का लेख सबसे अच्छा है। यह दूसरी बात है कि उसमें आपकी तारीफ़ कम है। सुनते हैं, आपने पारिश्रमिक दे कर वह लेख लिखाया था। हो सकता है, आपकी अपेक्षाएँ बड़ी हों और वह लेख उन पर पूरा न उतरा हो।

नहीं, लेख पैसे दे कर नहीं लिखवाया था। पैसे तो उन्हें 'नीलाभ प्रकाशन' से मेरी कहानियों पर लिखे गये लेखों और समीक्षाओं के संकलनों को सम्पादित करने और उनकी भूमिका लिखने के लिए दिये थे। पर ज्यों ही यह अनाउंस हुआ, इलाहाबाद के मित्रों ने घोषणा कर दी (किन मित्रों ने, यह तुम भली-भाँति जानते हो) कि दूधनाथ सिंह अश्क का अभिनन्दन-ग्रन्थ लिख रहा है। सो उसने किताब एडिट करके भूमिका लिखने से इन्कार कर दिया। इसलिए भी कि उसने विश्वविद्यालय की अध्यापकी के लिए आवेदन दे दिया था। अश्क की प्रशंसा करके तो उसे नौकरी मिलती नहीं, सो ही ट्राइड टु रिगल आउट ऑफ़ द कॉण्ट्रैक्ट, बट ही हैड टेकन ए लॉट ऑफ़ मनी इन एडवांस। जब नीलाभ ने ज़ोर दिया तो उसने यह लेख लिखा। लेख मैंने 'निरन्तर' में छपने को भेज दिया। हाँ, वह किताब वैसे ही पड़ी है। अब हृषीकेश ने उसे सम्पादित किया और उसकी भूमिका लिखी है। लेकिन इस बीच नीलाभ इंग्लिस्तान चला गया और वह नहीं छपी। रही उस लेख के सबसे अच्छा हाने की बात तो यदि कोई तुम्हारी कहानियों पर ऐसी ही काटती हुई टोन में कुतर्कपूर्ण लेख लिखेगा तो विश्वास रखो, वह तुम्हारे सभी मित्रों को अच्छी लगेगी। लेकिन दूधनाथ सिंह की दलील

मान भी ली जाय तो जिन चार-पाँच कहानियों--'डाची,' 'काकड़ाँ का तेली,' 'कैप्टन रशीद,' 'खटक' और 'पलँग' की उन्होंने भरपूर प्रशंसा की है, उनमें लेखक की दख़लन्दाज़ी उन्हें कहाँ दिखायी दे गयी ? फिर 'पलँग', जिसकी उन्होंने इतनी तारीफ़ की है--कहाँ से समष्टि-सत्य और दैनिक सरोकार की कहानी हो गयी। (याने उनकी दलीलों के अनुसार !)

ऐसी ही धाँधली डॉ. इन्द्रनाथ मदान ने की थी, जब अपने एक लेख में उन्होंने मेरी कहानी 'मनुष्य-यह !' को समष्टि-सत्य की सहज कहानी और 'कैप्टन रशीद' को व्यक्ति-सत्य की बनी हुई कहानी घोषित किया था। जबकि जिन दलीलों से उन्होंने 'कैप्टन रशीद' को घटिया सिद्ध किया था, उन्हीं दलीलों से 'मनुष्य-यह !' को भी घटिया सिद्ध किया जा सकता है।

इन्द्रनाथ मदान तो ख़ैर, दूसरे दर्जे की प्रतिभा के आलोचक हैं, कोई-न-कोई जुमला या फ़िकरा उछालने को वे आलोचना का कमाल समझ लेते हैं। दूधनाथ की आलोचना में शक्ति है, लेकिन वे घोर विद्वेषी, बददयानत और कायर हैं। जैसा कि मैंने पहले कहा, उनकी कहानियों की भरपूर प्रशंसा करते हुए मैंने कुछ दोष गिनाये तो उन्होंने मेरे और नीलाभ के शब्द चुरा कर उन्हें मेरी कहानियों पर घटा कर उनको एकदम निकृष्ट करार दे दिया।

> **यह शब्द चुराने की बात पर मुझे हर बार हँसी आ रही है। जैसे स्कूल से लौट कर मेरा बच्चा कहा करता है कि किसी ने उसका रबड़ चुरा लिया।**

तुम्हें शब्द चुराने की बात पर यदि हँसी आती है तो तुम्हें शब्द की अहमियत का पता नहीं। एक शब्द अपने में अर्थ का पूरा संसार छिपाये होता है। तीन-चार शब्दों से एक वाक्यांश बनता है। प्रसिद्ध आलोचक लीविस ने कवि इलियट के एक लेख से दो शब्द लिये--'कॉमन परस्यूट' (साझी या सहयोगी खोज) और इलियट का उल्लेख करते हुए उन्होंने अपने एक लेख का शीर्षक दिया। नामवर ने वहीं से शब्द ले लिया और 'सच्चे निर्णय के सहयोगी प्रयास में' शीर्षक से विष्णु प्रभाकर की कहानी को रगेद डाला। शब्द जब प्रचलित हो जाता है तो उधार लेने का सवाल नहीं उठता। पर जब कोई किसी की रचना को एक शब्द के माध्यम से व्याख्यायित करता है तो जो भी उससे शब्द लेता है, वह शब्द ही नहीं, उसका संसार भी लेता है। मैंने मण्टो के बारे में जो लिखा, क्या किसी ने उसके बारे में पहले भी वह लिखा। तुम पहले मण्टो के बारे में मेरी टिप्पणी पढ़ो, फिर नीलाभ की, फिर दूधनाथ सिंह का लेख पढ़ो, तुम मेरी बात समझ जाओगे।...

मैंने 'गिरती दीवारें' पर समर्पण के नाते (जाने किस झोंक में) लिखा था--'ज़िन्दगी के नाम जो अपने तमाम सुख-दुख के बावजूद दिलचस्प है।'

दूधनाथ ने वहाँ से मेरा कथन उठा लिया और लिख दिया कि अश्क ज़िन्दगी को महज़ दिलचस्प समझता है, वह समझता है कि वह जैसी है वैसी

है और वैसी ही उसे रहना चाहिए। उसका कोई इन्वॉल्वमेन्ट उसमें नहीं, वह भोक्ता नहीं, मात्र दर्शक है, सिनिक है, आदि... आदि...

ज़िन्दगी अपने तमाम सुख-दुख के बावजूद दिलचस्प है, लेकिन मेरी वह कौन-सी कहानी है, जिसमें वह जस-की-तस चित्रित है और उसे बदलने का संकेत नहीं।... अब उनकी ऐसी तमाम दलीलों के जवाब में मैं क्या कहूँ ? हर कथाकार की अपनी शैली, कहने का अपना ढंग होता है। मेरी भी है। मैं मण्टो की तरह कभी दख़लन्दाज़ी नहीं करता। मैं कला की पराकाष्ठा वहाँ समझता हूँ कि मैं लेखक के नाते कहीं भी स्वयं न आऊँ, और मैं जो कहना चाहता हूँ, उसे मेरी कहानी स्वयं कहे। 'काकड़ाँ का तेली,' 'डाची,' 'अंकुर,' 'सभ्य-असभ्य,' 'पत्नीव्रत,' 'दो आने की मिठाई,' 'मरुस्थल,' 'उबाल,' 'चेतन की माँ,' 'बरूँसी का फूल और भैंस,' 'सपने,' 'चट्टान,' 'मनुष्य-यह,' 'पिंजरा,' 'बैंगन का पौधा,' 'कालू,' 'मोती,' 'माँ,' 'खिलौने'--ये मेरी अनेक लोकप्रिय कहानियाँ ऐसी हैं। अपनी ओर से मैंने एक भी शब्द नहीं कहा, लेकिन मेरी नैतिक असहमति को, व्यवस्था या व्यक्ति--शोषक अथवा शोषण के प्रति मेरे आक्रोश को पाठक पा जाते हैं। यदि तीस-चालीस वर्ष पहले लिखी मेरी कहानियाँ आज इटली, फ्रांस, इंग्लिस्तान, अमरीका, जर्मनी, रूस में अनूदित हो रही हैं तो इसलिए न कि उनकी प्रासंगिकता ख़त्म नहीं हुई। १६७२ में मेरी तीस कहानियों का संग्रह रूसी भाषा में छपा था। पहली बात तो यही है कि वे समय या समाज से जुड़ी न होतीं तो उन लोगों ने उन्हें चुना न होता, फिर उनकी समीक्षा करते हुए आलोचक ई. बोरोविक ने यह न लिखा होता :--

> "अश्क द्वारा सृजित अनेकानेक नाना-रंगी पात्रों के हैरान कर देने वाले व्यापक समूह की पृष्ठभूमि में, हम सामाजिक न्याय के लिए, उत्पीड़ित और शोषित जन के अधिकारों के लिए सतत् लड़ने वाले, नैतिक रूप से एक उच्च स्तर के रचनाकार को पाते हैं।" [१]

अपनी ओर इस सिलसिले में स्वयं कुछ न कह कर सिर्फ़ यह कहूँगा कि तुम स्वयं ध्यान से कहानियाँ पढ़ो और देखो कि यद्यपि मैंने अपने उपन्यासों और कहानियों में अपनी ओर से एक भी शब्द नहीं लिखा, लेकिन समाज की जिस अनीति या कुरीति, रियाकारी या द्यूतता, व्यवस्था की जिस भ्रष्टता, व्यक्ति के जिस शोषण या उत्पीड़न पर पाठक के मन में आक्रोश जगाना चाहा है, वह जगता है या नहीं, मैं अपने या पाठकों के मनोरंजन मात्र के लिए साहित्य नहीं

---

१. Against the background of the bewildering mass of characters created by Ashk, we discern the moral stature of the author himself --the fighter for social justice, for the rights of the oppressed and exploited.

सृजता। मैंने कहीं लिखा है कि मैं भाँड या मिरासी नहीं हूँ कि मैं महज पाठकों के मनोरंजन के लिए रचना करूँ। मैंने ज़िन्दगी में बहुत भोगा है। ज़िन्दगी की समस्याओं और पेचीदगियों पर चिन्तन किया है। मैं अपनी तमामतर तकलीफ़ इसलिए रचनाओं में रखता हूँ कि पाठक मेरे अनुभवों से तादात्म्य स्थापित कर अपने को, समाज की व्यवस्था को, पहचानें। ज़िन्दगी के बारे में, अपने परिवेश, व्यवस्था और स्वयं अपने बारे में यथार्थताओं को जानें और कर सकें तो ज़िन्दगी उस्तवार करें। हाँ, यह सब मैं कला के माध्यम से करता हूँ। और स्वयं लेखक के नाते दख़लन्दाज़ी नहीं करता, क्योंकि मैं इसी को उच्चकोटि की कला मानता हूँ। लेकिन मेरे पात्रों के साथ मेरी कोई इन्वॉल्वमेंट नहीं, या मैं उनका दुख-दर्द महसूस नहीं करता, ऐसा तो कोई मूढ़, विद्वेषी या बददयानत आलोचक ही कह सकता है।

□ □

मेरा ख़याल है कि हम लोग रचना और प्रक्रिया के गहरे पानियों में उतरे जा रहे हैं। इससे पहले कि हम उनमें बह जायँ, मैं सोचता हूँ कि थोड़ी देर आपके व्यक्तित्व पर ही बात करें।

जैसा तुम चाहो।

मैं पूछना चाहता हूँ कि ज़िन्दगी में आपने दोस्त अधिक बनाये या दुश्मन ? किसी भी साथी लेखक से आपकी मित्रता ज़्यादा दिन तक क्यों नहीं चली ?

चली भी है। दो-एक तो अपवाद हैं।

वे लेखक नहीं होंगे।

बेदी (राजेन्द्र सिंह) तो हैं। उन्हें तुम अलेखक तो नहीं मान सकते।

ऐसी गुस्ताख़ी क्यों करूँगा ?

मैं सत्तर का हो गया हूँ। वे पैंसठ के हैं। तमाम मतभेदों और मन-मुटावों के बावजूद उनसे आज तक दोस्ती चली आती ही रही है। कल की बात मैं नहीं कह सकता। लेकिन अब तो हम दोनों नदी के कगार पर खड़े हैं, कब यह बहा ले जाय कौन जाने।

अभी आप दोनों सौ-सौ वर्ष जियें, पर अश्क जी, बेदी के या किसी और एकाध लेखक के साथ आपकी गहरी दोस्ती मेरी बात नहीं झुठलाती, क्योंकि अपवाद अन्ततः सामान्य सिद्धान्तों को ही प्रतिष्ठित करते हैं। बेदी की तरह इतने सारे लेखकों के साथ आपकी मैत्री क्यों नहीं चली ?

इसलिए कि मैंने नहीं चाहा।

आपने नहीं चाहा या उन लोगों ने नहीं चाहा ?

उनकी बात उनसे पूछो। अपनी मैं जानता हूँ। दोस्ती को मैं एकांगी चीज़ मानता हूँ और मैं यह भी मानता हूँ कि कोई आदमी यदि किसी मित्र के साथ दोस्ती बनाये रखना चाहता है तो उसका दायित्व भी उसी पर रहता है कि वह उसे टूटने न दे।

आपकी बात कुछ समझ में नहीं आयी।

मान लो मैं तुम्हारी संगति पसन्द करता हूँ, तुम्हारे साथ बैठना-उठना, घूमना-फिरना या साहित्य-चर्चा करना मुझे प्रिय है। या मुझे तुम्हारी रचनाएँ पसन्द हैं, मैं उन्हें सुनता हूँ या तुम्हें अपनी रचनाएँ सुनाता हूँ। और सलाह लेता-देता हूँ। उस पसन्द का कारण कुछ भी हो सकता है। यदि मुझे तुम्हारा साथ पसन्द है तो मैं सिर्फ़ यह कहना चाहता हूँ कि उस साथ को बनाये रखना मेरे ही ऊपर निर्भर

करता है। क्योंकि तुम भी इन्सान हो और मैं भी इन्सान हूँ। दस दोष तुम्हारे यहाँ होंगे, दस मेरे यहाँ। तब यदि उस साथ के सुख के लिए मैं तुम्हारे दस काम करूँ तो तुम्हारे दस दुर्गुणों को दर-गुज़र कर दूँगा। पति-पत्नी की तरह दो दोस्तों में भी एक हमेशा दूसरे को ज़्यादा चाहा करता है और उसूल यह है कि उसी को ज़्यादा कुर्बानी करनी पड़ती है। जहाँ मित्र प्रतिदान चाहने लगता है, मैत्री में दरार पड़ने लगती है।

यह तो कुछ अजीब-सी व्याख्या आपने दोस्ती की कर दी।

नहीं, यह अजीब नहीं, ज़िन्दगी के गहरे अनुभव और यथार्थ पर अवलम्बित है। अब यदि यह हाइपोथिसिस--परिकल्पना--मान ली जाय तो दो बातें निकलती हैं। दार्शनिक स्तर पर और व्यावहारिक स्तर पर। जिस आदमी को दुनिया के साथ चलना है, उसे दोस्तों के दुर्गुणों को दर-गुज़र करते चले जाना होगा और दोस्ती से जो कुछ उसे मिलता है, उसी पर नज़र रखनी होगी। मित्रों के स्वार्थ, बेवफ़ाई, टुच्चेपन, क्षुद्रता, लेग-पुलिंग, स्वार्थों की टकराहट को दार्शनिक भाव से ले कर दोस्ती को बनाये रखना होगा और व्यावहारिक स्तर पर यदि उसके अपने कोई दृढ़ सिद्धान्त, नैतिकता और मूल्य हैं तो उस दोस्ती और गुट के प्रति वफ़ादारी के लिए उनका त्याग करना होगा। महात्मा गाँधी कितनी तरह के लोगों को साथ मिलाये रखते थे। उनके देहान्त के बाद उन सबके गुण-दोष तो सामने आ ही गये हैं। तब कितने-कितने समझौते महात्मा गाँधी ने अथवा उनके साथ जुड़े हुए लोगों ने न किये होंगे, अपने आपको कितना नहीं मारा होगा, अपना मुँह कितना बन्द न रखा होगा। राजनीति में प्रायः यह होता है। लेकिन मैं तो राजनीतिज्ञ नहीं हूँ। मैं तो लेखक हूँ। मेरी अपनी नैतिकता, अपनी दयानत, अपनी सच्चाई, अपने मूल्य और अपने आदर्श है। जहाँ मुझे उनकी कीमत पर दोस्ती रखनी पड़ेगी, वह देर तक नहीं चलेगी।

लेकिन आपके मित्र भी तो लेखक ही हैं। उनके भी अपने मूल्य, अपनी नैतिकता और आदर्श होंगे।

ज़रूर होंगे, लेकिन कितने उन मूल्यों और आदर्शों को निभा पाते हैं। फिर लेखक-लेखक में अन्तर होता है। बीसियों कलम घिसने वालों में से कालान्तर में जो चार-छै लेखक ऊपर आते हैं, दूसरों के मुकाबिले में वे ही अपने मूल्यों, सिद्धान्तों और आदर्शों का ज़्यादा पालन करने वाले होते हैं। वे अपने साहित्य की कीमत पर समझौता नहीं करते। कहीं मैंने लिखा है, 'समझौता ज़िन्दगी की शर्त सही, पर आदमी के पास कुछ तो ऐसा हो, जहाँ वह किसी से किसी कीमत पर समझौता न कर सके।' तुम्हारे इस प्रश्न के सन्दर्भ में यही कि मेरे पास कुछ मूल्य और आदर्श हैं, जिनमें साहित्यिक ईमानदारी प्रमुख है। जहाँ मैं देखता हूँ कि दोस्ती का मतलब उन मूल्यों, आदर्शों और ईमानदारी को छोड़ देना होगा तो मैं परे हट जाता हूँ। मुझे तो किसी ने नहीं छोड़ा। मैं ही अलग हो गया।

तो ये तमाम लोग मूल्य-विहीन थे, जो आपके जीवन में आये ?

पहले-पहले तो पता नहीं लगता। मित्र आपको पसन्द आता है, आप उसके दुर्गुणों को नहीं देखते, लेकिन जहाँ बहुत घनिष्ठता हो जाती है, वहाँ कई बार वैसी स्थितियाँ आ जाती हैं। आप मित्र के लिए लगातार कुछ-न-कुछ करते रहते हैं। आपका दोस्त इसे आपकी भलमंसी नहीं, वरन अपनी चतुराई अथवा अपना अधिकार समझता है और कुछ ऐसा चाहता है, जो आप कर नहीं सकते। तब मैत्री में वह गर्मजोशी नहीं रहती। या फिर मित्र आपकी किसी रचना की बेहद तारीफ़ करता है और बदले में चाहता है कि आप भी उसकी रचनाओं की प्रशंसा करें। अब ऐसे में या तो आदमी अपनी ईमानदारी को बाला-ए-ताक रख कर मित्र की प्रशंसा करे, या फिर उसकी नाराज़गी का जोखिम उठाये। मेरी मुसीबत यह है कि मुँह-देखी प्रशंसा मुझसे नहीं होती। चीज़ यदि अच्छी नहीं तो मेरे मुँह से प्रशंसा नहीं निकल सकती। सो मैं अपने परम शत्रु की रचनाओं को सराहता हूँ और मित्र की रचनाओं की आलोचना कर देता हूँ और दोस्त दुश्मन बन जाते हैं।

मेरे जैसे मुँहफट और साफ़गो की एक दूसरी मुश्किल भी है। मैं जब लेख या संस्मरण लिखता हूँ तो लगी-लिपटी नहीं रखता और संस्मरणों में कृष्णचन्द्र या कमलेश्वर की तरह अफ़साने का रंग नहीं भरता। जो सच होता है, वही लिख देता हूँ और पंजाबी मसल है--सच आक्खाँ ते...

भाम्बड़ मचदा ऐ...

हाँ, शोले लपकते हैं। मेरी कथनी और करनी में बहुत अन्तर नहीं है। ज़िन्दगी को मैंने अपनी शर्तों पर जिया है। यथाशक्य अपने साहित्यिक आदर्शों का अपने जीवन में पालन किया है। मैंने अपने घर-द्वार, सगे-सम्बन्धियों और स्वयं अपने बारे में जब कलम उठाया है, तो भयानक-से-भयानक हक़ीकत को उकेर दिया है। तब ऐसे आदमी से यह अपेक्षा करना कि वह दोस्तों के बारे में वह सब न लिखे, कैसे सम्भव है। अब यदि व्यावहारिक स्तर पर जीना है तो यह सब नहीं हो सकता। दोस्तियों और साहित्यिक ईमानदारी में से एक को तजना ही पड़ेगा।

हाँ, लेकिन अश्क जी, कई बार ऐसा लगता है कि आप प्रतिशोध में भी लिखते हैं। मैं जानता हूँ कि आपने प्रतिशोध में कई रचनाएँ की हैं, वे 'आकाशचारी' या 'अजगर' जैसी कहानियाँ हों, अथवा 'चेहरे : अनेक' के कितने ही प्रसंग। इसमें कहीं साहित्यिक ईमानदारी खण्डित नहीं होती ?

लेखक किस प्रेरणा से लिखता है, पाठक को इससे ग़रज़ नहीं होनी चाहिए। सिद्धान्ततः रचना कैसी बनी है, उसे सिर्फ़ इसी बात का ख़याल रखना चाहिए। और पाठक रखता भी है। चूँकि आप इलाहाबाद में रहते हैं, मैं बता भी देता हूँ और आप जान भी लेतें हैं कि रचना अमुक को ले कर लिखी गयी है, लेकिन हिन्दी केवल इलाहाबाद ही में तो पढ़ी नहीं जाती, पूरे देश में पढ़ी और समझी

जाती है और आप जो तथ्य जानते हैं, ज़रूरी नहीं कि केरल अथवा कर्नाटकवासी भी उन्हें जानता है। पाठक सिर्फ़ कहानी देखेगा और यदि कहानी सफल और उत्कृष्ट है तो वह विद्वेष में लिखी गयी है या प्रतिशोध अथवा प्रति-स्पर्धा में या किसी अन्य उद्रेक से, इससे उसे कोई मतलब नहीं रहता। इट इज़ नन ऑफ़ हिज़ बिज़नेस !

यह उसका कन्सर्न नहीं ?

हाँ, यह उसका कन्सर्न नहीं। यदि मेरी कहानी किसी दूरस्थ प्रदेशीय पाठक को भी ईर्ष्या या विद्वेष या प्रतिशोध में लिखी लगती है, तो मैं समझता हूँ कि वह त्रुटिपूर्ण है, ख़ाम है, निन्दनीय है और देर-सबेर विस्मृति के कूड़ेदान में फेंक दी जायेगी। यदि ऐसा नहीं है तो मेरे निकट रहने वाले मित्रों के यह कहने से कि कहानी निन्दनीय है, क्योंकि प्रतिशोध में लिखी गयी है, उसका कुछ नहीं बिगड़ेगा। मैं किसी उद्रेक से भी क्यों न कहानी लिखूँ, रचना करते वक्त मेरा वह उद्रेक गौण हो जाता है और रचना प्रमुख हो जाती है। ...रही प्रतिशोध की बात तो मैं प्रायः प्रतिशोध में नहीं लिखता। जो दो-एक रचनाएँ लिखी हैं, वे भी मित्रों को यह बताने के लिए कि प्रतिशोध में भी यदि रचना लिखी जाय तो कैसी होनी चाहिए। तुम जानते हो भैरव ने मुझ से नाराज़ हो कर मेरे और मेरी पत्नी के विरूद्ध एक निहायत असफल और फूहड़ उपन्यास लिखा। मैंने 'आकाशचारी' और 'अजगर' जैसी उच्च कोटि की रचनाएँ करके बताया कि इस उद्रेक से भी रचना की जाय तो कैसी होनी चाहिए फिर मानव जी ने मुझ पर एक नब्बे प्रतिशत झूठा संस्मरण लिखा और छपवाया और मित्रों में बाँटा, जिसमें अपनी क्षुद्रता और अहंकार को छिपाते हुए झूठे किस्से और घटनाएँ गढ़ कर मेरा चरित्र-हनन करने का प्रयास किया। मैंने 'चेहरे : अनेक' में वे ही सब बातें सच-सच लिख दीं। उनके और मेरे संस्मरण में अन्तर यही है कि मैंने यदि उनकी क्षुद्रता, टुच्चापन और विद्वेष उघाड़ा तो अपना भी नहीं छिपाया। क्योंकि मैं संस्मरण का गुण उसका शत-प्रतिशत सच्चा और प्रामाणिक होना मानता हूँ। दोनों रचनाएँ साथ-साथ पढ़ कर स्वयं ही निर्णय कर लो कि दोनों में कौन अधिक सच्ची, खरी, प्रामाणिक और प्रभावी है।

लेकिन मैं इस मुद्दे को रचना-प्रक्रिया के स्तर पर लाना चाहता हूँ। जैसे एक नकारात्मक प्रवृत्ति है-प्रतिशोध ! क्या ऐसी नकारात्मक प्रवृत्ति श्रेष्ठ लेखन के मार्ग में बाधा नहीं बन सकती ?

प्रतिशोध ज़रूरी नहीं कि नकारात्मक हो, अमर्षजनित होगा तो आदमी को अपरम्पार शक्ति देगा और सकारात्मक हो जायेगा। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार--आदमी की पाँचों स्वाभाविक वृत्तियाँ ज़िन्दगी की प्रचालन शक्तियाँ हैं। इनका नकारात्मक या सकारात्मक होना स्थिति-सापेक्ष है। जहाँ पीड़ित और

शोषित जन प्रतिशोध के वशीभूत हो, एकजुट हो उठ खड़े होते हैं तो क्रान्ति हो जाती है। यदि कोमितांग के सैनिकों ने माओ के परिवार की हत्या न कर दी होती तो क्या माओ से मन में वह भयंकर अमर्ष उपजता, जिसने चीन में क्रान्ति ला दी ? यदि अहंकारी गोरों ने महात्मा गाँधी को, जो बैरिस्टर होने के नाते सूट-बूट पहने फ़र्स्ट क्लास के डिब्बे में यात्रा कर रहे थे, अफ़रीका में डिब्बे के बाहर न फेंक दिया होता तो क्या वे भारत में अंग्रेज़ी हुकूमत को जड़ ही से उखाड़ फेंकते ? इसी प्रतिशोध ने विश्वामित्र जैसे क्षत्री राजा को ऋषि बना दिया, नन्द वंश का नाश कर चन्द्रगुप्त को सिंहासन पर बैठा दिया, इसी ने महाभारत जैसे युद्ध का सूत्रपात किया।

अब मेरी समझ में आ रहा है कि आप भी 'चेहरे : अनेक' लिख कर साहित्य-क्षेत्र में महाभारत छेड़ना चाहते हैं।

उसके बारे में तुम्हारा आरोप क्या है, साफ़-साफ़ कहो तो मैं कुछ सफ़ाई दूँ।

कहना मैं यही चाहता हूँ कि आपकी इस साहित्यिक जीवनी--या जो भी इसे आप कहें--'चेहरे : अनेक' के दो-तीन खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं। आपकी इस चरित्र-माला से अनेक साहित्यिक मित्र विक्षुब्ध हैं। यह बताइए कि रचनात्मकता का रास्ता छोड़ कर आप इस छीछालेदर पर क्यों उतर आये हैं ?

(हँस कर) इसलिए, कि डॉ. रामविलास ने कहा है--हिन्दी साहित्य की छीछालेदर का नाम अश्क है।

मज़ाक नहीं, अश्क जी सीरियसली जवाब दीजिए !

बात यह है कालिया कि मैंने कई बार अपने आप से यह सवाल किया है। अभी नहीं, जब मैंने इसे लिखना शुरू किया था तब भी, और....

और मैं सोचता था कि ज़िन्दगी के इस चरण पर पहुँच कर आपको सबसे पहले 'गिरती दीवारें' का अन्तिम खण्ड पूरा करना चाहिए था, जो कि आपके लिए और पाठकों के लिए बहुत ज़रूरी है, लेकिन आपने यह स्कैण्डलस किताब लिखनी शुरू कर दी।

इसका कारण है। हुआ यह कि 'एक नन्हीं किन्दील' के बारे में किसी लाहौरवासी ने एतराज़ कर दिया है कि मैंने कहीं-कहीं सड़कों का भूगोल बदल दिया है। हालाँकि उपन्यास के लिए यह ज़रूरी नहीं होता कि गली-बाज़ारों के नाम जस-के-तस दिये जायँ, लेकिन जाने क्यों एक मानसिक बाधा उपस्थित हो गयी। और मैंने सोचा कि अन्तिम खण्ड लिखने से पहले मैं एक बार लाहौर देख आऊँगा। लेकिन दोनों देशों के सम्बन्ध '७१ के युद्ध के बाद ठीक नहीं रहे। फिर जब ठीक हुए और 'सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद्' ने मुझे भेजना स्वीकार कर लिया तो साल भर तक वीसा नहीं मिला। और यूँ बहुत-सा कीमती समय नष्ट हो गया। अभी इस साल मार्च में मैं पाकिस्तान का दौरा कर आया हूँ। किंचित

बीमार हूँ। थोड़ा स्वस्थ हो कर और हाथ का काम निबटा कर मैं दिसम्बर या जनवरी या मई-जून में 'गिरती दीवारें' के अन्तिम खण्ड को हाथ लगा दूँगा। फिर चाहे 'चेहरे : अनेक' का चौथा खण्ड लिखूँ या न लिखूँ।[1]

लेकिन यदि आपके पास फ़ालतू वक्त था तो आप कोई लघु उपन्यास लिखते।

लिखा। 'निमिषा'।

कोई नाटक लिखते।

तीन लिखे। रफ़ पड़े हैं।

एकांकी या कविताएँ...

कविताओं का संग्रह '७८ में छपा और एकांकी-संग्रह प्रेस में है... भाई मेरे, मैंने भरपूर जीवन जिया है और अनेकानेक पात्र, घटनाएँ और अनुभूतियाँ मेरी स्मृति के पर्दे पर नक्श हैं। स्मृति मेरी फ़ोटोग्राफ़िक है। वर्षों पहले की घटनाएँ अपने नन्हे-से-नन्हे ब्योरे के साथ मुझे याद हैं। मैं जब-जब उनमें से कोई दिलचस्प संस्मरण सुनाता रहा हूँ, लोगों ने हमेशा कहा है कि मुझे वह सब अपनी आत्म-जीवनी में लिखना चाहिए। एक बार बनारस में जगत शंखधर ने विशेष कर इस सन्दर्भ में ज़ोर दिया था। मैं सोचता, कैसे लिखूँ ? परम्परागत जीवनी लिखना मुझे स्वीकार नहीं था। तभी राकेश ने 'सारिका' में 'आइने के सामने' शीर्षक से एक लेख-माला प्रकाशित की। मैंने भी उसके लिए लेख लिखा और वह पसन्द भी ख़ूब किया गया। तब पहली बार लगा कि हाँ, साहित्य-क्षेत्र सम्बन्धी अपने अनुभवों को मैं उस तरह से, बिना परम्परागत जीवनी लिखे, लेखनीबद्ध कर सकता हूँ। फिर कुछ वर्ष बाद शौनक ने अमरीका से 'गिरती दीवारें' उपन्यास-माला के बारे में प्रश्न भेजे और इच्छा प्रकट की कि वे मेरी साहित्यिक जीवनी लिखना चाहेंगे। १९७४ में मैं इंग्लिस्तान गया। वहाँ से यूत्रेख़्त विश्वविद्यालय (हॉलैण्ड) के हिन्दी अध्यक्ष प्रोफ़ेसर ग्याफ़्के के निमन्त्रण पर हॉलैण्ड गया। पाँच दिन मैं उनके यहाँ रहा। एक शाम बातों-बातों में उन्होंने तमाम साहित्यिक झगड़ों का उल्लेख किया, जो प्रेमचन्द और द्विवेदी-युग के साहित्यकारों के दरम्यान हुए और बोले कि यदि कोई उन पर शोध करे तो वे यूत्रेख़्त विश्वविद्यालय से ग्राण्ट दिला देंगे।... मैं मान लेता हूँ कि 'चेहरे : अनेक' के वर्तमान रूप के पीछे ये तीनों प्रेरणाएँ हैं।

प्रो. ग्याफ़्के ने यह राय दे कर आपके साथ न्याय नहीं किया।

उन्होंने मुझे लिखने के लिए कहा था, लेकिन मैंने तय किया कि 'चेहरे : अनेक' में मैं स्वयं 'आइने के सामने' जाऊँगा और अपने पेचीदा और खण्डित चरित्र का एक-एक छिलका उतार कर रख दूँगा और इस प्रक्रिया में सारे उर्दू-हिन्दी

---

१. 'चेहरे : अनेक' का चौथा खण्ड छप चुका है और पाँचवाँ प्रेस में है।

साहित्यिक समाज का असली चेहरा पाठकों को दिखाऊँगा। लेकिन सवाल उठा--किस उद्देश्य से ? पाठकों को उसमें क्या मिले ? मेरे लिखने का पर्पज़ क्या हो ? उस सब के पीछे दृष्टिकोण क्या हो ?...

साथी लेखकों को ध्वस्त करते चलना।

देखो, मुझे कहने दो ! लेट मी एक्सप्लेन ! मैंने गत पचास वर्षों में लगातार मध्यवर्गीय समाज का यथार्थ चित्रण किया है--आलोचनात्मक ढंग से व्यंग्य और विद्रूप के सहारे, कि वह जैसा है, पाठकों के सामने आ जाये और लोग उसकी हकीकतों को जान कर अपने आदर्श बनायें और कुण्ठित होने से बचें। जब मैंने अपना चरित्र-चित्रण करने का फ़ैसला किया तो यह फ़ैसला किया कि जैसे मैंने अपने घर-परिवार, सगे-सम्बन्धियों, अपने सारे परिवेश का निर्मम और निःसंग चित्रण किया है, वैसा ही अपना भी करूँगा। यह ठीक है कि मैं एक लेखक हूँ। प्रतिष्ठित भी हूँ, लेकिन सबसे पहले मैं एक इंसान हूँ, सभी इंसानों की तरह कमज़ोरियों और शहज़ोरियों का पुतला। ज़िन्दगी की किन्हीं परिस्थितियों और अपने चरित्र की कुछ विशेषताओं के कारण मैं लेखक बन गया। सिर्फ़ पैसा कमाना कभी मेरा ध्येय नहीं रहा। वरना दूसरे पेशों में मैं लाखों कमा सकता था। मैं तो एक सफल अध्यापक हो सकता था, उच्चकोटि का पत्रकार, फ़ौजदारी का वकील, वक्ता, राजनेता, अभिनेता, फ़िल्मकार, सेल्ज़ एग्ज़ेक्टिव--बहुत कुछ हो सकता था। मैं चाहता तो एक सफल वैद्य हो सकता था। मेरे पास कुछ ऐसे अचूक नुस्ख़े हैं और कविराज हरनाम दास से मैंने प्रचार के ऐसे ढंग सीख रखे हैं, चाहता तो अमृत धारा के आविष्कारक की तरह एक अचूक औषधि से लाखों बना लेता।

आपकी बातों से लगता हे कि आपको अपने लेखक होने का कहीं खेद है।

नहीं, खेद की बात नहीं।

माना आप वकील और जज बन सकते थे, फ़िल्म-निर्देशक और प्रोड्यूसर बन सकते थे, लेकिन लेखक बन गये तो आप क्या सन्तुष्ट नहीं हैं ?

सन्तुष्ट न होता तो छोड़ देता। लगातार लिखता हूँ तो समझ लो इसी में सर्वाधिक सन्तोष मिलता है। मैं लेखक होना अपनी नियति मानता हूँ। मैंने बहुत पहले जान लिया था कि यही मेरी नियति है। लेकिन चूँकि स्वभाव से ज़िद्दी हूँ, इसलिए अपनी रुचि के तमाम पेशे अपना कर देखे; महज़ अपना कर नहीं, उन में सफलता पा कर भी देखी, लेकिन मुझे लगा कि मेरी नसों की बनावट कुछ ऐसी है, मुझे किसी और पेशे में सुख नहीं मिल सकता। मैं दिन-रात लिखता हूँ। मनोविनोद के लिए कुछ भी नहीं करता, न सिनेमा देखता हूँ, न ताश-शतरंज-कैरम, पिंगपाँग या बैडमिण्टन खेलता हूँ। लेकिन मैं न थकता हूँ, न ऊबता हूँ। इसका सिर्फ़ यही मतलब है कि लेखन मुझे सुख देता है और यही मेरी नियति ...

हो सकता है, आप मन्त्री होते तो आपको अच्छा लगता।

नहीं अच्छा लगता। तुम मुझे नहीं जानते। मेरे मन में अगर आ जाता कि मुझे मन्त्री होना है तो मैं मन्त्री हो कर रहता। लेकिन कहा न कि मेरी रुचि उसमें नहीं है। जिस कारण मैंने वकालत छोड़ दी, रेडियो, फ़िल्म, सेना की नौकरियाँ छोड़ दीं, उसी कारण वह पद भी छोड़ देता, निश्चय ही मुख्य मन्त्री या प्रधान मन्त्री से मेरी खट जाती। कई बार मुझे अच्छी-अच्छी कमेटियों की सदस्यता मिली, लेकिन मैं नहीं चला पाया।

तो अपने चुनाव से आप लेखक हैं।

यकीनन ! सभी क्षेत्रों को अपनी इच्छा के अनुसार आज़मा कर मैंने चुनाव किया है। अजाने या अचेतन रूप से मैं लेखक नहीं बना, चेतन रूप से बना हूँ। इसीलिए मैं अच्छी-अच्छी नौकरियाँ क्षण भर में छोड़ भी सका, वरना अपने इर्द-गिर्द देखो--निहायत टुच्ची नौकरियों से चिपटे रहने के लिए लोग कितनी ख़ुशामद, कितने समझौते और कितना दन्द-फन्द करते हैं।

लेकिन दन्द-फन्द तो आप लेखक होने के बावजूद भी करते हैं।

दन्द-फन्द किस तरह का ? जब तक तुम यह न बताओ तब तक मैं क्या कह सकता हूँ।

आप लेखक होने के साथ-साथ प्रकाशक भी हैं। प्रकाशन से बहुत-सी चीज़ें जुड़ी हैं। बिक्री जुड़ी है, सरकारी ख़रीद जुड़ी है, पाठ्य-पुस्तकें और दूसरे लालच जुड़े हैं और मेरा ख़याल है कि प्रकाशक के नाते इस सब दन्द-फन्द से आप मुक्त तो नहीं हो पाये हैं ?

नहीं, बहुत हद तक हो पाया हूँ। या हो सका हूँ, क्योंकि मैं प्रकाशन के मार्ग के तमाम खाई-खत्तों को जानता था और यह भी जानता था कि कैसे उनमें गिरे बिना काम चलाया जा सकता है। फिर प्रकाशन शुरू करने का फ़ैसला मैंने नहीं किया। मैं तो रेडियो में नौकरी की कोशिश कर रहा था। मिल भी रही थी, लेकिन वेतन उतना ऑफ़र हुआ, जितना मैं बाहर रह कर कमा लेता था। मैंने इन्कार कर दिया। वहाँ लक्ष्मी नारायण मिश्र नियुक्त हो गये। इलाहाबाद के शुरू के दिनों में लोगों ने हमसे कुछ ऐसा शैबी व्यवहार किया कि क्रोध में मेरी पत्नी ने प्रकाशन करने की ठान ली। जैसा कि मैंने कहा, वह शरणार्थी रजिस्टर हो गयी थी, सरकार से कर्ज़ मिल सकता था और उसे ही मिल सकता था। मैं तो अभी पूरी तरह भी स्वस्थ नहीं हुआ था। उसने लखनऊ-दिल्ली एक कर दिया और तीन महीने में कर्ज़ मंज़ूर करा लिया। तब मेरे मित्र वाचस्पति पाठक ने कहा--'अश्क, यह बहुत घटिया काम है, तुम प्रकाशन न करो। तुम्हें बहुत ज़लील होना पड़ेगा और तुम्हारा लिखना-पढ़ना चौपट हो जायेगा।'

और उन्होंने कुछ मित्रों की मिसालें दीं, जिन्होंने प्रकाशन किया और

असफल रहे। मेरी कुछ पुस्तकें 'भारती-भण्डार' से छपी थीं। मैंने उनसे कहा कि आप मेरी सारी पुस्तकें छापने का अनुबन्ध कर लें। मैं जो पुस्तकें लिखूँ, वे छै माह में छप जायें, जो संस्करण आऊट-ऑफ़-प्रिण्ट हो जाय, वह भी छै माह में छप जाय तो मैं प्रकाशन नहीं करता !

पाठक जी ने कहा कि 'लीडर प्रेस' उनके बाप का नहीं है, बिरला का है, वे किस प्रकार वैसा अनुबन्ध कर सकते हैं।

तब मैंने उनसे कहा, ठीक है, आप मुझे मेरे हाल पर छोड़ दीजिए, मैं वादा करता हूँ, कि प्रकाशन भी जमा दूँगा, ज़लील भी नहीं हूँगा और मेरा लिखना भी बन्द नहीं होगा।... और पिछले तीस साल का इतिहास गवाह है कि मैंने तीनों काम सफलता से किये हैं। इस सफलता के पीछे ज़िन्दगी की मेरी समझ, साफ़-दिमाग़ी और प्राथमिकताओं (प्रायरटीज़) का चुनाव है। मेरे लिए प्रमुख मेरा साहित्य और घर की सुख-शान्ति है और शेष सब गौण है। मेरे मित्र और प्रशंसक बड़ी-बड़ी पोस्टों पर हैं। मन्त्रि-मण्डलों में हैं, मुसीबत में किसी के दर पर जाऊँ तो काम हो जाता है। यह आसान रास्ता हुआ न। अब मैं अपना काम-धाम, लिखना-पढ़ना छोड़ कर यही करने लगूँ तो भले ही रुपया कमा लूँ, पर मैं जानता हूँ, मेरे साहित्य की धार कुन्द हो जायेगी। क्योंकि जो आदमी किसी के दर पर जाता है, उतनी मात्रा में हीन हो जाता है। सो उस रास्ते पर कहाँ तक जाना है और कहाँ रुक जाना है, यह मैं बख़ूबी जानता हूँ। मैं सिर्फ़ आपद्-धर्म में ऐसा करता हूँ। इसे अपना वतीरा नहीं बनाता कि मेरे अन्दर की आग ही बुझ जाय और मैं लिखना-पढ़ना छोड़ सुख-सुविधा के सामान जुटाता फिरूँ।

◻ ◻

अश्क जी, एक बात बताइए, अहिन्दी भाषी लेखक होने के नाते आपने क्या-क्या कठिनाइयाँ झेलीं ? आप के लेखकीय 'संघर्ष' के बारे में पाठक और श्रोता जानना चाहेंगे।

अ-हिन्दी और ग़ैर-उर्दू कहो, क्यों मैं पंजाबी हूँ और मैंने अपना साहित्यिक जीवन पंजाबी कवि के नाते शुरू किया। सो उर्दू-हिन्दी दोनों में कठिनाइयाँ पेश आयीं।

उर्दू में क्या कठिनाई पेश आयी ?

उर्दू में सबसे बड़ी कठिनाई तो शब्दों के सन्दर्भ में ही पेश आयी। उर्दू मैंने किसी मकतब में मौलवी साहब से तो पढ़ी नहीं थी। शॉर्ट हैण्ड लिपि है। ज़ेर-ज़बर बाकायदा लगायी जाय तो उच्चारण में ग़लती नहीं होती, पर कोई कातिब ज़ेर-ज़बर नहीं लगाता। ऐसे में बलवन्त सिंह को बलूनत संघ, या बिलवन्त सुंघ या वलवुन्त सिंह पढ़ा जा सकता है। पहली से पाँचवीं जमात तक उर्दू अनिवार्य थी। छठी में पण्डित ने कहा तुम ब्राह्मण के बेटे हो, यह क्या म्लेच्छ भाषा पढ़ रहे हो ? तब संस्कृत-हिन्दी पढ़ने लगा। फल यह है कि न संस्कृत आयी, न उर्दू, न हिन्दी। पंजाबी कविता करता था। पंजाबी अच्छी भी लगती थी। पंजाबी निहायत अभिव्यक्ति-सक्षम, प्यारी और सशक्त भाषा है (याने यदि शुद्ध पंजाबी लिखी जाय, जिसमें उर्दू और देहाती भाषा का पुट हो और उसका हिन्दीकरण न किया जाय जैसा कि आजकल हो रहा है।) लेकिन पंजाबी शायर तब शहर के निचले तबके के प्रायः अपढ़ आवारा और गुण्डे थे। पत्र-पत्रिका कोई निकलती न थी। उर्दू सम्भ्रान्त लोगों की भाषा थी, सो ग़ज़ल कहने लगा। फिर उस्ताद से नाराज़ हो कर गद्य की ओर पलटा और धाराप्रवाह कहानियाँ लिखता चला गया। लेकिन मैं आज भी सोचता हूँ--काश, पंजाबी में लिख सकता। मैं उसमें तमाम पंजाबी लेखकों की अपेक्षा बेहतर अभिव्यक्ति दे सकता था, क्योंकि जैसा मैंने कहा, भारत के पंजाबी लेखक कृत्रिम पंजाबी लिखते हैं, पाकिस्तान में जो पंजाबी लिखी जाती है, वह ज़्यादा मीठी, प्यारी और सटीक है।

पंजाबी में कोई चीज़ आपको याद हो तो सुनायें।

बैत या ग़ज़ल

बैत ही सुना दीजिए।

लम्बी कविता थी। अब तो सिर्फ़ एक बन्द याद रह गया है। सुनो--

किते जा ते बैठ के विच सुंजें[1], असाँ अपना आप परचाईदा ऐ[2]
कोई सुने न अपनी गल्ल भावें[3], असाँ दिल नूँ दोस्त बनाईदा ऐ
ओसे आख सुना ते सुन ओह्दी, ओसे ताई ही असाँ रिझाईदा ऐ
दुख ओस दे साह्मणे फोल जिन्दे, वक्त कट्टना एस तन्हाईदा ऐ
होया की जे दोस्ताँ अक्ख फेरी
कह्र टुट्टिया केह्ड़ी खुदाईदा ऐ
साडा दिल ते 'अश्क' ऐ नाल साडे
ओसे नाल ई ग़म वटाईदा ऐ

वाह !

कुछ पंजाबी शेर सुनोगे ?

सुनाइए !

ग़ज़ल तो लम्बी है, तीन-चार शेर सुनाता हूँ।

इरशाद !

तो अर्ज़ किया है :

मेरे हम-सफ़रो रता[४] होश'च आओ, वेखो
कीमती पल ने अजाँई[५] न गुआओ, वेखो
बुलबुलाँ, कुमरियाँ, मुटियाराँ[६] ते हरियाँ फ़सलाँ
मंज़िलों पहलाँ किते दिल न लगाओ, वेखो

ज़रा यह शेर ध्यान से सुनना

रात काली ऐ ते ग़म वाली ऐ, हाड़ा[७] दीवे

हाड़ा दीवे--वाह, फिर से पढ़िए

रात काली ऐ ते ग़म वाली ऐ हाड़ा दीवे
तपदियाँ[८] यादाँ दे हाले ना बुझाओ, वेखो

तपदियाँ यादाँ दे--वाह वा, वाह वा

मंज़िलाँ दूर ने यारो मेरे पैंडे[९] औक्खे[१०]
इश्क दा गीत कोई हुम्म[११] के गाओ, वेखो

मक्ता सुनो--

अश्क तुब्का[१२] नईं पानी दा, लहू-रत्ता[१३] ऐ
अश्क नू एँवेंई[१४] मिट्टी न मिलाओ, वेखो।

---

१. सूने में, एकान्त में, २. परचाते हैं, १. चाहे, २. ज़रा, ३. व्यर्थ, ४. नवयुवतियाँ, ५. हाय-हाय भगवान के लिए, ६. गर्म-गर्म, ७. रास्ते, ८. कड़े, ६. जोश से, १०. कतरा, बूँद, ११. रक्त-रंजित, १२. यूँही, व्यर्थ।

क्या बात है, क्या बात है, पंजाबी में आप इतने अच्छे शेर कह लेते हैं, मैंने तो सोचा भी नहीं था।... तो मैं पूछ रहा था कि हिन्दी में आने के बाद आप को किस तरह की कठिनाइयाँ हुई ?

मैं बता रहा था कि उर्दू भाषा में उच्चारण के सिलसिले में मुझे बहुत कठिनाई हुई। लिख तो लेता था, लेकिन शब्दों के तलफ़्फ़ुज़ याने उच्चारण में ग़लती कर देता था। उर्दू लिपि में कातिब कई बार 'वाओ' और 'दाल' एक जैसे लिख देते हैं। मैं बहुत दिनों 'तावक्तेकि' को 'तादकतीका' पढ़ता रहा। 'मुयदा' को 'मुसरदा' और 'लब्बैक' को 'लीबक'...

इस पृष्ठ-भूमि के साथ तो बड़ा मुश्किल है लेखन में उतरना।

मुश्किल तो था, पर उस अर्ज (urge) उस प्रबल उत्कण्ठा, अभिव्यक्ति की उस तड़प का क्या करता जो धरती फोड़ कर बह उठने वाले झरने की तरह मेरे अन्तर से फूट निकलने को बेताब रहती थी। ज़िद्दी आदमी हूँ। हठी और क्रोधी। ऊपर से पिता ने मन्त्र दिया कि कोई भी काम कठिन नहीं, जो काम एक माँ का बेटा कर सकता है, उसे दूसरी माँ का बेटा भी कर सकता है। परसीवियर, परसीवियर, परसीवियर ! अध्यवसाय, अध्यवसाय, अध्यवसाय ! सो मैंने अपार श्रम और अध्यवसाय से उस भाषा पर आवश्यकतानुसार अधिकार पा लिया। दो मित्रों ने बहुत मदद की। पण्डित रत्नचन्द मोहन (ग़ैर मा'रूफ़ जर्नलिस्ट) और कवि राशिद ने। मैंने भी सीखने और बार-बार अपनी उर्दू रचनाओं को सँवारने से गुरेज़ नहीं किया। उस वक्त, जब मैं ज़ोरों से उर्दू में रचना-रत था, मेरी दस-बारह पुस्तकें छप चुकी थीं, मैंने तय किया कि मैं हिन्दी में लिखूँगा।

कारण ?

कारण बहुत-से हैं। प्रमुख उसमें प्रेमचन्द से परिचय, पत्र-व्यवहार और उनकी पत्रिका 'हंस' में छपने की लालसा ! फिर महत्वाकांक्षा। उर्दू के सारे परचे लाहौर में छपते थे, सिर्फ़ 'साकी' दिल्ली से निकलता था। मेरी रचनाएँ उन सब में छप चुकी थीं। हिन्दी पत्रिकाएँ देश के कई प्रमुख नगरों से निकलती थीं। 'विश्वमित्र' और 'विशाल भारत' कलकत्ते से, 'हंस' बनारस से, 'माधुरी' लखनऊ से, 'सरस्वती' और 'चाँद' इलाहाबाद से, 'वीणा' इन्दौर से, 'भारती' और 'शान्ति' लाहौर से--ओर मैं चाहता था उस विशाल पाठक-वर्ग तक पहुँचूँ।

ये सब पत्रिकाएँ लाहौर में उपलब्ध हो जाती थीं ?

हाँ। फिर मैं हिन्दी पढ़ तो लेता ही था, क्योंकि ब्राह्मण हूँ, माँ ने पट्टी-पूजा हिन्दी में ही करायी थी और हिन्दी सिखायी भी थी, पर लिखने का अभ्यास नहीं था। जब मैंने हिन्दी में लिखने का फ़ैसला किया, मैं 'प्रिय' को 'प्रीय' लिखता था। मुझे कितनी कठिनाई हुई होगी, अब तुम कल्पना कर लो।

उच्चारण सम्बन्धी दिक्कतें आपको हिन्दी में भी पेश आयी होंगी ?

ज़रूर।

जैसे।

'उच्चारण' शब्द ही को लो। मैं इसे लिखता ठीक था, पर बोलता था 'उच्चार्ण'।

तभी अज्ञेय ने आप पर तुक्तक लिखा है।

हाँ, इधर अपनी तीन-तीन पुस्तकों में उन्होंने मुझ पर कृपा की है। दो में तो झूठी बातें लिखी हैं। तीसरी बात आधी सच्ची है, क्योंकि 'उच्चारण' को 'उच्चार्ण' तो मैं कहता था, पर 'दशक' को 'दश्क' मैंने कभी नहीं पढ़ा। फिर मुझे वक्ता तो होना नहीं था। न सभाओं की अध्यक्षता करनी है, न उद्‌घाटन-भाषण देने हैं। मेरे उच्चारण में पंजाबी पुट रहे तो मैं परवा नहीं करता। हाँ, लिखते वक्त मैं शब्द ग़लत नहीं लिखता और भाषा तो अज्ञेय की अपेक्षा कहीं बेहतर लिखता हूँ। वे अंग्रेज़ी में सोचते हैं, हिन्दी में लिखते हैं। अपने आप भाषा क्लिष्ट हो जाती है। सरल-सी बात को क्लिष्ट बना कर पेश करते हैं, जबकि मैं कठिन और गहन विचारों तक को सरल भाषा में रखता हूँ। नाटक उन्होंने लिखने की कोशिश की, उनसे बने नहीं। उपन्यास उन्होंने तीन लिखे। दो आधे मौलिक और तीसरा 'अपने-अपने अजनबी' उन्होंने हिन्दी में अस्तित्ववाद के प्रवर्तक बनने के चक्कर में लिखा। वह ज़रा भी भारतीय परिवेश का नहीं लगता, न हम उससे तादात्म्य ही स्थापित कर पाते हैं। उसका कोई इम्पैक्ट भी नहीं पड़ा--उनके चमचों और जेबी आलोचकों के दसियों लेखों के बावजूद ! कहानियाँ उन्होंने कुछ ज़रूर अच्छी लिखी है, या फिर कविताएँ, लेकिन कोई नहीं कह सकता कि कितनी मौलिक हैं और कितनों के विचार उन्होंने चुराये हैं। जब कि मैंने हर माध्यम में उनसे बेहतर और मौलिक लिखा है। यह और बात है कि मेरे पास न चमचे हैं, न गुट, न उन्हें पालने-पोसने, विलायतों की सैर कराने के साधन, न पत्र-पत्रिकाएँ, जिनमें मेरी घटिया रचनाओं में भी गुण खोज निकाले जायँ ! 'साहित्य अकादमी' और 'ज्ञानपीठ' के पुरस्कार उन्होंने जैसे लिये हैं, वैसे वे नोबल प्राइज़ भी ले जायेंगे, लेकिन गति उनकी बेहतर नहीं होगी। अपनी तमाम ख्याति, इनाम-अकराम, विदेश-यात्राओं और उपलब्धियों के बावजूद वे कहीं बहुत कुण्ठित व्यक्ति हैं। दिल के निहायत छोटे। अपने बराबर के किसी समकालीन की कभी उन्होंने प्रशंसा नहीं की। ऐसे में खिसियानी बिल्ली खम्भा नोचे के अनुसार यदि वे मेरे ख़िलाफ़ पुस्तक लिख कर सन्तोष पाते हैं तो मेरा क्या बिगड़ता है। मुझे तो कुछ मज़ा ही आता है कि यह बना हुआ व्यक्ति अपनी ऊँचाई से अन्ततः कुछ नीचे तो उतरा।

साथी लेखकों के प्रति आपके मन में बहुत कटुता है। अज्ञेय को आप लेखक ही नहीं मानते ?

कुछ कहानियाँ और कविताएँ उन्होंने बहुत अच्छी लिखी हैं, लेकिन मैं उन्हें लेखक से बड़ा पत्रकार मानता हूँ। 'हिन्दी कहानी : एक अन्तरंग परिचय' में मैंने लिखा था--'अज्ञेय का रचनाकार कवि, कथाकार, विचारक तथा पत्रकार के बीच दुविधाग्रस्त रहा है और धीरे-धीरे कथा और कविता को छोड़ कर पत्रकारिता की राह लग गया है।' पत्रकार वे बहुत अच्छे हैं। जब तक 'दिनमान' के सम्पादक रहे, उसका स्तर अच्छा रहा, हालाँकि वहाँ भी वे एक महाशक्ति और एक विचारधारा से बँधे रहे। लेकिन शायद उसी कारण उन्होंने बहुत कुछ पाया भी है और शायद खोया भी।

पर उनमें कोई तो गुण आपको नज़र आया होगा अथवा आपका पूर्वग्रह ही...
आदमी वे सुन्दर हैं। यह गुण क्या कम हैं। मुस्कराते हैं तो बहुत अच्छे लगते हैं, लेकिन कभी-कभी उन पर दया भी आती है कि चिन्तक और मनीषी का पोज़ बनाये रखने के लिए इस व्यक्ति को कितना सहना पड़ा है। यह खुल कर हँस नहीं सकता, बोल नहीं सकता, गप नहीं लगा सकता, मज़ाक नहीं कर सकता, सह नहीं सकता, भीड़ का अंग नहीं बन सकता, ज़िन्दगी की कितनी-कितनी सामान्य ख़ुशियाँ महान कहलाने के चक्कर में इसने अपने ऊपर हराम कर ली हैं। मेरी रचनाओं में आलोचना के लिए इसे सिर्फ़ यह मिला कि मैं 'उच्चारण' को 'उच्चार्ण' कहता हूँ।

आपने एकाध शादी उत्तर प्रदेश में कर ली होती तो इस दोष से भी मुक्त हो जाते।

काश ! शुरू में कोई तुम जैसा हमदर्द सलाहकार मिला होता।

इलाहाबाद में बहुत-से लोग आपको 'अश्क' की बजाय 'अशक' कहते हैं।
जैसे पंजाबी 'उपेन्द्र' की बजाय 'उपिन्दर' ! लेकिन यह कोई आलोचना का विषय नहीं। रचना के शिल्प, उसके कथ्य, उसकी भाषा, विचार में दोष हो तो शिकायत होनी चाहिए। मैंने बहुत पहले एक छोटी-सी कहानी लिखी थी--'छिद्रान्वेषी !' कभी पढ़ना। तुम्हें अज्ञेय के सारे व्यक्तित्व उनके पोज़ और मनोविज्ञान की झलक उस छोटी-सी कहानी में दिखायी दे जायेगी। पंजाबी हूँ। उच्चारण मेरा आज भी शुद्ध नहीं, जब कि मुझे तीस वर्ष इलाहाबाद में रहते हो गये हैं। मज़े की बात यह है कि जालन्धर या होशियारपुर का कोई आदमी आज भी मेरे लहजे से पहचान लेता है कि मैं दोआबे का हूँ। इसे मैं दोष नहीं मानता। हाँ, लिखते वक्त मैं ध्यान रखता हूँ कि शब्द ग़लत न हो; फिर चाहे मुझे दिन में दस बार डिक्शनरी देखनी पड़े।

मैंने कई बार महसूस किया है कि आप कोश की भाषा लिखते हैं। मेरा मतलब आप कोश से शब्द उड़ाते हैं, दूधनाथ की तरह नीलाभ के लेख से नहीं।

कोश की मदद से जैसे भाषा कृत्रिम बनती है, यह देखना हो तो पन्त की भाषा देखो। मैं तो बोल-चाल की सरल और बोध-गम्य भाषा लिखता हूँ। कोश की मदद इसलिए लेता हूँ कि हिज्जे ग़लत न हो जायँ। चूँकि तुम जानते हो कि मैं दिन में दस बार कोश देखता हूँ, इसलिए तुम ने यह फ़िकरा चस्पाँ कर दिया। वरना देश और विदेश में इतने लेख मेरे बारे में छपे हैं, किसी ने इस बात की शिकायत नहीं की। लोगों ने तो बल्कि हमेशा मेरी भाषा की रवानी और प्रवहमानता को सराहा है और मैं समझता हूँ कि मेरी लोकप्रियता में मेरी सरल और बोलचाल की भाषा का हाथ कम नहीं।

अश्क जी क्या कारण हैं (मुझे अक्सर जिज्ञासा होती है) कि आप पर हिन्दी प्रदेशों में कम काम हो रहा है, दक्षिण और विदेशों में अपेक्षाकृत ज़्यादा ?

इसका कारण यह है कि हिन्दी प्रदेश में मैं सशरीर मौजूद हूँ--अपने व्यक्तित्व के तमाम अनघिसे कोनों के साथ ! मुँह-फट और साफ़-गो आदमी हूँ। पोज़ या रियाकारी मुझ से बनती नहीं। अन्धे को अन्धा कह देता हूँ, सूरदास नहीं कहता। जिसको अन्धा कह देता हूँ वह मुझे क्यों अन्धा नहीं कहेगा। प्रशंसा और आलोचना--दोनों खुल कर करता हूँ। लोग प्रशंसा स्वीकार कर लेते हैं थोड़ी-सी आलोचना सहन नहीं कर पाते।

इस दोष से तो आप भी मुक्त नहीं हैं।

इंसान हूँ। बुरा तो लगता है। लेकिन प्रतिक्रिया में कभी मैं किसी की उत्कृष्ट रचना को नकारने का प्रयास नहीं करता। लोग मन में गिरह बाँध लेते हैं। वह मेरा और तो कुछ बिगाड़ नहीं सकते। मेरी अच्छी-से-अच्छी रचनाओं के बारे में चुप लगा सकते हैं अथवा व्यर्थ में दोष दिखा सकते हैं। नौकरी मैं करता नहीं कि मेरा पत्ता काटें। १६७८ में मुझे आकाशवाणी और टी.वी. से इमेरिटस प्रोडयूसरशिप मिलने वाली थी। लिस्ट में मेरा नाम सबसे पहले था। लेकिन तभी मिनिस्ट्री बदल गयी। इलाहाबादी यारों ने कितने अड़ंगे लगाये, डॉ. लक्ष्मी नारायण लाल ने मेरा नाम कटवाने और अपना रखवाने के लिए कैसा एड़ी-चोटी का ज़ोर लगाया, यह जानना चाहो तो कभी सम्बन्धित अफ़सरों से मिल लेना। लेकिन, छोड़ो इस बे-मज़ा किस्से को। बस, इतना समझ लो कि जब मैंने हिन्दी में कदम रखा तो मेरे आगे जाने कितने दिग्गज थे और मैं सब से आगे आ गया। कलक तो यारों को होगा ही।

ज़ाहिर है।

फिर मैं पंजाब से आया। उर्दू से आया। और हिन्दी के हिमायतियों में दोनों के प्रति घोर नफ़रत है।

लेकिन प्रेमचन्द भी तो उर्दू से आये थे।

लेकिन पंजाबी नहीं थे। लम्ही के थे, जो बनारस से केवल चालीस मील दूर है। और तब हिन्दी-उर्दू इस तरह बँटी भी नहीं थी, जैसे आज। गोष्ठियाँ हिन्दी-उर्दू अदीबों की इकट्ठी होती थीं। आज की तरह अलग-अलग ख़ेमे नहीं थे। फिर प्रेमचन्द चाहे हिन्दी में लिखने लगे थे, पर उनकी भाषा अनुवाद की रहती थी। इस स्थिति से उर्दू वाले भी ख़ुश थे और हिन्दी वाले भी। जब कि मैंने अपने यहाँ वह दोष दूर कर दिया और हिन्दी वालों की अपेक्षा बेहतर हिन्दी लिखता हूँ। इस पर भी मैं कहना चाहूँगा कि प्रेमचन्द के साथ हिन्दी वालों ने कम अन्याय नहीं किया। उनके मुकाबिले में हमेशा प्रसाद को उठाया। उनके उपन्यास को 'मंगला प्रसाद परितोषक' नहीं मिला, जब कि सम्मेलन के नियम बदल कर प्रसाद की 'कामायनी' को दिया गया। हिन्दी के इलीट कहलाने वाले आलोचकों ने कभी उनको उत्कृष्ट नहीं माना और मन में आज भी नहीं मानते। लेकिन इसे क्या किया जाय कि प्रेमचन्द जनमानस में पैठ गये हैं और वहाँ से कोई उन्हें हटा नहीं सकता। प्रेमचन्द की आत्मा को इससे बढ़ कर किस बात में सन्तोष मिल सकता है--अथवा यूँ कहें कि उनकी लोकप्रियता की इससे बड़ी और क्या दलील हो सकती है--कि आज उनकी जन्म शताब्दी पर वे लोग, जो उन्हें द्वितीय कोटि की प्रतिभा वाला मानते थे--वे अज्ञेय हों या डॉ. रघुवंश या हिन्दी साहित्य सम्मेलन वाले--यहाँ-वहाँ गोष्ठियों की अध्यक्षता और उद्घाटन करते और उनकी प्रशंसा करते घूमते हैं।

मैंने आपसे पूछा था कि बाहर आप पर क्यों ज़्यादा काम...

उसी विषय पर आ रहा हूँ। सारे हिन्दी साहित्य में केवल प्रेमचन्द के उपन्यास का अनुवाद यू. एन. ओ. से हुआ। बात यह है कि हिन्दी सिर्फ़ हिन्दी प्रदेश में नहीं रही, दक्षिण भारत के अलावा विदेशों के नब्बे विश्वविद्यालयों में पढ़ायी जा रही है। बाहर वालों के सामने लेखक का व्यक्तित्व तो रहता नहीं, उसका कृतित्व रहता है। वे सब को पढ़ते हैं और जो उन्हें ठीक लगता है, लिखते हैं। शौनक ने जब 'गिरती दीवारें' उपन्यास-त्रयी पर शोध-प्रबन्ध लिखने का निर्णय किया था तो एक पत्र में मुझे लिखा था कि उन्होंने दो सौ हिन्दी उपन्यास पढ़े हैं। उन सब में उन्हें मेरा उपन्यास सर्वाधिक अच्छा लगा। १९७८ में वीसबाडन (पश्चिम जर्मनी) से स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य पर अंग्रेज़ी में एक इतिहास छपा है, जिसमें प्रोफ़ेसर ग्याफ़्के ने न केवल 'चेतन कथाचक्र' (यही नाम उन्होंने 'गिरती दीवारें' को दिया है) को स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी गद्य साहित्य में एकमात्र महान् उपन्यास माना है, बल्कि बाद में लिखे जाने वाले उपन्यासों पर उसके प्रभाव को भी रेखांकित किया है। पुस्तक की एक प्रति भेजते हुए उन्होंने लिखा था कि हिन्दी वाले मेरी मान्यताओं से सहमत नहीं होंगे, पर हिन्दी साहित्य में जिनका डिड्डम पीटा जाता है। (उन्होंने कुछ नाम दिये थे) उन्हें यहाँ कोई नहीं जानता।

रही मेरे मेरे बारे में हिन्दी वालों की उपेक्षा की बात, सो तुम भली-भाँति जानते हो कि यहाँ वाले मुझसे रुष्ट रहते हैं। कुछ मैं भी उन्हें नाराज़ करता रहता हूँ। विशेषकर आलोचकों को, क्योंकि मैंने मन में तय कर लिया है कि यदि मैं एक दबंग बाप का बेटा हूँ और अपने पिता से मैंने कुछ सीखा है तो हिन्दी के तमाम आलोचकों को नाराज़ करके भी मैं हिन्दी के ही नहीं, विश्व के साहित्य-क्षेत्र में जम कर दिखा दूँगा।

लेकिन आप आलोचकों को नाराज़ क्यों करते हैं ?

ख़ुश क्यों करूँ ? लेखक का धर्म है अपनी तमाम सीमाओं के चलते बेहतर-से-बेहतर लिखना। आलोचक का धर्म है, लेखक मित्र हो या शत्रु, निष्पक्ष और निर्भीक आलोचना करना। मैं सिर्फ़ इतना कह सकता हूँ कि मैं अपना धर्म निभाता हूँ, आलोचक अपना धर्म नहीं निभाते।

आपकी प्रशंसा करें तो आप मानें कि धर्म निभाते हैं ?

न चौहानियन[१] कोरी प्रशंसा से कुछ होता है, न रामविलासियन[२] कोरी निन्दा से। यदि आलोचक रचना के मर्म को नहीं पकड़ता, कथानक बयान करके सुपरलेटिव शब्दों में प्रशंसा कर देता है तो उसका क्या मतलब है और यदि बिना रचना के मर्म को समझे अथवा (दोष ही गिनाने हों तो) बिना दोषों पर उँगली रखे, कोई स्वीपिंग रिमार्क दे कर उसे नकार देता है तो उसका भी कोई मतलब नहीं। ... देखो कालिया, जैसा कि मैंने एक प्रश्न के उत्तर में कहा था, जब मैं लाहौर, दिल्ली और बम्बई याने हिन्दी साहित्य के हाशिये पर रहता था और मेरे पास प्यारे-प्यारे पत्र लिखने का समय था तो आलोचक मुझसे बहुत प्रसन्न थे और उन्होंने मेरी प्रारम्भिक रचनाओं की इतनी प्रशंसा की है कि हिन्दी प्रदेश में आ कर फिर मुझे वैसी प्रशंसा कभी नसीब नहीं हुई। सवाल शायद अहं का है। मैं हिन्दी के कुछ प्रसिद्ध आलोचकों के निकट रहा हूँ और उनके मनोविज्ञान को जानता हूँ। लेखक अहं के वशीभूत हो कर स्पर्धा में उच्चकोटि का साहित्य रच सकता है। पर यदि रचना अच्छी हो तो कालान्तर में आलोचक ही दो कौड़ी का सिद्ध होगा। मैं स्वयं आलोचक हूँ। हिन्दी के सिद्ध आलोचकों के लेख पढ़ो और मेरे भी, फिर तुम मेरी बात समझ जाओगे।

□ □

---

१. शिवदान सिंह चौहान २. रामविलास शर्मा

तो अश्क जी, इतनी लम्बी यात्रा आपकी--जालन्धर से लाहौर, दिल्ली, बम्बई और इलाहाबाद तक और इसी तरह पंजाबी से उर्दू और उर्दू से फिर हिन्दी तक की--जबकि न आप हिन्दी बोल सकते थे, न लिख सकते थे--आपको भयंकर कठिनाई हुई होगी। रचना-प्रक्रिया के सन्दर्भ में कहाँ-कहाँ संघर्ष करना पड़ा, इसके बारे में हम कुछ जानना चाहेंगे ?

संघर्ष तो कई तरह का करना पड़ा। पहला संघर्ष तो भाषा का ही है। जब आप उर्दू से हिन्दी में आते हैं तो आपको बहुत-से उर्दू शब्दों के हिन्दी पर्याय नहीं आते। तब आप उर्दू के शब्द इस्तेमाल करते हैं। कई बार पर्याय आपको मालूम होते हैं, पर वे आपकी भाषा में अँटते नहीं और आप उर्दू या फिर पंजाबी शब्द इस्तेमाल करने को विवश होते हैं। या फिर आप उर्दू से हिन्दी सायास अनुवाद करते हैं और भाषा क्लिष्ट एवं प्रवाहहीन हो जाती है। शुरू-शुरू में मेरी रचनाओं में यही कैफ़ियत है ! शुरू की हिन्दी रचनाओं में मेरी भाषा अनुवाद की लगती है, वह सहजता, रवानी, प्रवहमानता वहाँ नहीं है। 'सितारों के खेल' और 'गिरती दीवारें' के पहले संस्करणों का यही हाल है। मुझे संस्करण-दर-संस्करण भाषा को सँवारना पड़ा, कहूँ कि अपनी बनाना पड़ा। फिर उर्दू से आने वाले लेखक को उर्दू अच्छी लगती है। उस्तादों ने माँज-धो कर उस भाषा को कुछ अजीब-सा निखार दे दिया है, लेकिन हिन्दी का अपना रस और रंग है। और भाषाओं का अपना तर्क होता है। जब आप किसी भाषा को जान जाते हैं, उसमें रस पाने लगते हैं तो उस भाषा के मुहावरे, लोकोक्तियाँ, सूक्तियाँ, शब्द, शब्दों के अर्थ, अर्थों के शेड्ज़ आपको अच्छे लगने लगते हैं और आपके अजाने और अनचाहे वे शब्द, वाक्यांश, सूक्तियाँ, मुहावरे, आपकी भाषा में आने लगते हैं। बहुत-से नये शब्द मिलते हैं, बहुत-से आप स्वयं बनाते हैं अथवा संस्कृत से निकली हिन्दीतर भाषाओं--गुजराती, मराठी, बँगला, आदि से लेते हैं। न आपकी भाषा की प्रवहमानता घटती है, न सरलता, लेकिन वह उत्तरोत्तर अभिव्यक्ति-सक्षम और प्रांजल होती चलती है। और इसमें आप कुछ नहीं कर सकते। पिछले दिनों मेरी कुछ रचनाएँ छपीं तो मेरी पत्नी ने भी और मेरे मित्र सत्यप्रकाश किरण ने भी (जो दिल्ली के टी. वी. केन्द्र के निदेशक हैं) इस बात की शिकायत की कि मेरी भाषा पहले की अपेक्षा थोड़ी क्लिष्ट हो रही है। लेकिन भाषा शब्दों, उनके अर्थों और शेड्ज़ के साथ चलती है और जब भाषा पर आपका अधिकार हो जाता है तो ठीक शब्द अपने आप ठीक जगह फ़िट हो जाता है।

हाँ, अभी आपने अभिव्यक्ति-सक्षम और प्रांजल शब्द इस्तेमाल किये।

अब यह सब अपने आप, अनायास होता है और कोई इस बात की शिकायत नहीं कर सकता कि मेरी भाषा की रवानी या सहजता या बोधगम्यता कम हो गयी है, क्योंकि प्रेमचन्द ने १६३५ में अपने एक लम्बे पत्र में मुझे जो यह सूत्र दिया था--कि शब्द किसी भाषा का लो, ख़याल यह रखो कि तहरीर की रवानी और ख़यालात का तसलसुल याने शैली की प्रवहमानता और विचारों का क्रम, कायम रहे--वह हमेशा मेरे सामने रहा है। शब्द मेरी भाषा में पंजाबी, उर्दू, मराठी, गुजराती, बम्बइया, बंगला, अवधी और भोजपुरी के मिल जायेंगे, लेकिन यह नहीं आप कह सकते कि भाषा का प्रवाह या विचारों का क्रम भंग हुआ है। यह जो मैं इतनी काट-छाँट करता हूँ, इसीलिए कि ठीक जगह ठीक शब्द रखूँ। तीन-चार भाषाएँ जानने से मेरे पास चुनाव की बहुत गुंजाइश है, सरल अभिव्यक्ति के लिए मैं सरल शब्द का चुनाव कर सकता हूँ। भाषा के सन्दर्भ में इतना समझ लो कि कठिन लिखना सरल है, लेकिन सरल लिखना और कठिन से कठिन बात सरलता से कहना बहुत मुश्किल है। अब तुम जानते हो 'गिरती दीवारें' के चार संस्करण हो चुके हैं। संक्षिप्त पाठय-संस्करणों तथा पाकेट बुक संस्करणों को भी गिनूँ तो उपन्यास की लाख से ऊपर प्रतियाँ बिक चुकी हैं, लेकिन पाँचवाँ संस्करण प्रेस में जाने को हुआ तो लगातार पाँच महीने की मेहनत से मैंने उसे आद्योपान्त बदल दिया।

यह तो ज़्यादती है।

यादव ने भी कहा था कि आप ऐसा नहीं कर सकते। यह तो इतिहास बदलने जैसा है। इससे शोध-छात्रों को कठिनाई होगी। लेकिन मैं ऐसा नहीं मानता। मैं उपन्यास शोध-छात्रों के लिए नहीं लिख रहा, न हिन्दी इतिहास की ही मुझे चिन्ता है। जैसा कि मैंने कहीं पहले भी कहा है कि मैं एक ऑब्सेस्ड, आक्रान्त, लेखक हूँ। कुछ अनुभूतियाँ मुझे अभिव्यक्ति के लिए परेशान किये हुए हैं और मैं वह वृहद उपन्यास लिखने को अभिशप्त हूँ। यूँ समझ लो कि मैं पिछली आधी सदी से एक मूर्ति गढ़ रहा हूँ। मैं उसे गर्दन तक ले आया हूँ। बस मुझे उसका चेहरा बनाना है, लेकिन मुझे लगता है कि इसके पैर ठीक नहीं बने हैं। सिर बनाने से पहले मैं क्यों अपनी कल्पना के मुताबिक पैर ठीक नहीं कर सकता ? मैं अगले वर्ष उपन्यास का अन्तिम खण्ड शुरू करूँगा। सोचा तो यही था कि उपन्यास ख़त्म करके ही पहले खण्ड को बदलूँगा। लेकिन सत्तर का हो गया हूँ। छठे संस्करण तक ज़िन्दा रहूँ, न रहूँ--इसलिए इस बार दिल्ली गया तो मन-मुताबिक मैंने उसमें संशोधन कर दिया।

लेकिन उपन्यास तो मैंने भी पढ़ा है। उसमें दोष क्या था ?

दोष तो उसमें कई थे, यह और बात है कि किसी आलोचक ने उन पर उँगली नहीं रखी।

मसलन !

मसलन उपन्यास पंजाब के निम्न मध्यवर्गीय जीवन को ले कर लिखा गया है, लेकिन लिखा वह पहले उर्दू और फिर हिन्दी में गया। यूँ तो जीवन में उसके तमाम पात्र पंजाबी बोलते हैं, पर यदि उपन्यास की भाषा पात्रानुकूल होती तो तमाम सम्वाद पंजाबी भाषा में होते। यह सम्भव नहीं था। तब मैंने यह किया कि सम्वाद यथाशक्य काट दिये। कुछ पात्र हैं जो एकाध वाक्य पंजाबी में बोलते हैं, शेष मैंने इनडायरेक्ट नरेशन में रखे हैं। ताकि मुझे पंजाबी सम्वाद न देने पड़ें। लेकिन भले ही पंजाबी सम्वाद न हों, शुद्ध हिन्दी के तो हो ही नहीं सकते। चेतन उर्दू अख़बारों में काम करता है। उर्दू का लेखक है। उर्दू सम्वाद बोल सकता है। हिन्दी उसे आती नहीं। 'गिरती दीवारें' के तीसरे खण्ड 'एक नन्हीं किन्दील' में वह हिन्दी सीखता है और ख़ासी अटपटी हिन्दी लिखता है, पर जब 'गिरती दीवारें' मैंने हिन्दी में किया तो चेतन के मुँह में शुद्ध हिन्दी के सम्वाद रख दिये और उपन्यास में यह बड़ा भारी दोष था।

किसी आलोचक ने इस पर आपत्ति की ?

नहीं। लेकिन मुझे सदा यह बात खलती रही। फिर 'गिरती दीवारें' बुनियादी खण्ड है। उसमें उपन्यास के प्रमुख पात्रों को इण्ट्रोड्यूस भर किया गया है, लेकिन जब उपन्यास बढ़ा और चार खण्ड लिख लिये गये तो कुछ पात्र प्रारम्भिक योजना से कहीं ज़्यादा आकार पा गये, कई ऐसी घटनाएँ आ गयीं, जिनका बीजरूप में उल्लेख इस आरम्भिक खण्ड में अनिवार्य था। फिर चूँकि उपन्यास-खण्डों के लिख जाने में वर्षों का अन्तराल रहा, कई पात्रों के नाम बदल गये। पहले में जो डॉ. सत्यप्रकाश था, वह किसी खण्ड में सोम प्रकाश हो गया, आदि... आदि... इस तरह के बहुत-से परिवर्तन-परिवर्द्धन और संशोधन करने में पाँच महीने लग गये।

इन त्रुटियों की ओर भी किसी ने संकेत नहीं किया।

शौनक ने किया--इनकी तरफ़ भी और अन्य कई बातों की तरफ़ भी--पर उसने उपन्यास के तीनों खण्ड एक साथ तीन बार पढ़े। मैं नहीं समझता हिन्दी के किसी आलोचक ने उन्हें एक बार भी एक साथ पढ़ा है। एक साथ उपन्यास के सभी खण्ड पढ़ते तभी तो ये दोष दिखा पाते। लेकिन पढ़ते ही कैसे, जब वे उपन्यास को कोई महत्व ही नहीं देते। जाने कितनी बार मेरे मित्रों और आलोचकों ने कहा है कि आप क्यों चेतन की ऊबाऊ गाथा के पीछे हाथ धो कर पड़े हैं, कि आख़िर उस सब में लिखने का है ही क्या ? अब मैं, जैसा कि मैंने कहा, एक आक्रान्त लेखक हूँ। मुझे तो अपने मन की शान्ति के लिए वह सब लिखना है, मैं हिन्दी के लेखकों, अध्यापकों, आलोचकों और शोध छात्रों के लिए तो लिख नहीं रहा।

लेकिन पाठकों के लिए तो लिखते हैं ?

सच्ची बात यह है कि मैं उनके लिए भी नहीं लिखता। लेकिन अन्ततोगत्वा उपन्यास की सफलता अथवा असफलता का निकष तो उन्हीं के पास है। और मुझे इस बात का गुमान है कि हिन्दी के गुटबन्द लेखकों और आलोचकों ने भले ही मेरी रचनाओं के बारे में ख़ामोशी अख़्तियार कर रखी हो, या भद्दे, ओछे रिमार्क दिये हों, अथवा सरसरी-सी, मूर्खता-भरी समीक्षाएँ की हों और उसका उचित मूल्यांकन न किया हो, देश के विशाल पाठक वर्ग ने मुझे लेटडाउन नहीं किया। बहुत-से पाठकों ने मुझे अपने इम्प्रेशन दिये, कुछ ने आलोचना भी की और कुछ प्रबुद्ध पाठकों ने उपादेय सुझाव भी दिये। मुझे बी.ए. में अंग्रेज़ी पढ़ाने वाले बंगला अध्यापक डॉ. गंगाचरण कर ने एक बार कहा था और मैंने उसका कई बार उल्लेख किया है--'लुक हियर एटी फ़ोर (वे मुझे कक्षा में मेरे रोल नम्बर से पुकारते थे) वर्क हार्ड, बिकॉज़ पॉस्टेरिटी इज़ वेरी सेल्फ़िश ऐण्ड क्रूएल।'[१] और कालिया सच मानो, मैंने उस नसीहत को हमेशा सामने रखा है।... रचना-प्रक्रिया के सन्दर्भ में मेरा संघर्ष भाषा, वस्तु और रूपाकार--तीनों के सिलसिले में रहा। मैंने वस्तु के चुनाव में महीनों-वर्षों सोचा है, जो रचना जिस रूपाकार में मेरी बात कह सके, वही अपनाया या गढ़ा है, शब्दों और उनकी अर्थच्छटाओं का ध्यान रखा है। मेरे पिता ने मुझे एक नसीहत की थी कि संसार के महान रचनाकारों की रचनाएँ और उनकी जीवनियाँ पढ़ो। उनके गुणों को अपनाओ, दोषों से बचो ! और यही मैंने किया है। रचना करते समय मेरे सामने हिन्दी-लेखक नहीं रहते। संसार के महान लेखक रहते हैं और मैं कोशिश करता हूँ कि मेरी रचना उस स्तर तक उठे। यदि बिना किसी आयास-प्रयास के मेरी लगभग एक दर्जन कहानियाँ विभिन्न विदेशी भाषाओं में अनूदित हो गयी हैं, मेरे उपन्यासों और नाटकों का उचित मूल्यांकन विदेशों में हो रहा है तो उन लोगों ने उन्हें स्तरीय पाया होगा तभी न। दूधनाथ सिंह ने अपने लेख में 'अंकुर' की कड़ी आलोचना की है, लेकिन कुछ ही वर्ष पहले मेरी वह पुरानी कहानी फ़्रांसीसी भाषा में अनूदित हुई है।

□ □

---

१. देखो नम्बर ८४, डट कर मेहनत करो, क्योंकि आने वाली पीढ़ियाँ निहायत स्वार्थी और निर्मम होती हैं।

अश्क जी, आपके बारे में अनेक लोगों का विचार है कि आपका प्रारम्भिक लेखन अधिक सार्थक था, जैसे आपकी कहानियाँ 'डाची' या 'काकड़ाँ का तेली' या आपका उपन्यास 'गिरती दीवारें' या संस्मरण 'मण्टो : मेरा दुश्मन' ! इन प्रारम्भिक रचनाओं में जो सामाजिक संलग्नता नज़र आती है, वह कालान्तर में आपकी रचनाओं में खण्डित होती चली गयी है। मेरा संकेत 'पलँग,' 'बेबसी,' 'झाग और मुस्कान,' 'मरना और मरना' आदि आपकी ऐसी ही कहानियों की ओर है। आपकी इस दौर की रचनाओं में व्यक्तिवादी भटकाव नज़र आता है।

भटकाव वग़ैरा कुछ नहीं है। बात सिर्फ़ इतनी है कि ज़िन्दगी को मैं बहुत जी आया हूँ। बावन वर्ष तो लेखक के नाते ही मैं ज़िन्दगी से जूझा हूँ और ७० का हो गया हूँ। मेरे सामने कई बार बहुत-से बुनियादी सवाल उठ जाते हैं। जवाब मिलता नहीं। बहुत पढ़ता हूँ, बहुत सोचता हूँ। चालू नारों और सैद्धान्तिक घोषणाओं--स्लोगंज़ और शिब्बोलेथ्स--में मेरा विश्वास नहीं। क्योंकि वे हर तीसरे दिन उछलते और मन्द होते रहते हैं। हमारा तो ग़ुलाम देश है। शारीरिक रूप से भले ही हम आज़ाद हो गये हों, ज़ेहनी तौर पर तो हुए नहीं। वहाँ एलिएनेशन के सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ तो यहाँ अपने आपको आधुनिक कहाने वाले लेखक समाज या परिवार से कटे हुए लोगों को साहित्य में उतारने लगे। कथाकारों और कवियों ने अपने पिताओं को ललकारना शुरू किया और घोषणा की कि वे परम्पराओं से एकदम कट गये हैं। कई कहानियाँ एलिएनेशन को ले कर लिखी जाने लगीं।... वहाँ यदि अस्तित्ववाद का दौर आया तो यहाँ इस बात की होड़ लग गयी कि हिन्दी में अस्तित्ववाद का प्रवर्त्तक कौन कहलाये और लेखकों से ले कर आलोचकों तक अस्तित्ववाद के राग अलापने लगे।... वहाँ अगर ऐब्सर्ड रचनाओं का युग आया तो हमारे यहाँ लोग स्वयं ऐब्सर्ड हो गये। यह तो हुई एक ख़ेमे की बात, दूसरे ख़ेमे में एक वक्त स्तालिन की प्रशंसा में कविताएँ लिखी जाती थीं। फिर .ख्रुश्चेव ने स्तालिन का शव तक क्रेमलिन के मुसोलियम से उठवा दिया और सह-अस्तित्व का नारा दिया। यहाँ सह-अस्तित्व पर यारों ने ग्रन्थ लिख डाले। दूसरी और चीन में माओ का उदय हुआ। जाने माओ को ले कर कितनी कविताएँ लिखी गयीं। माओ रूस से लड़ गये। यहाँ पार्टी दो हिस्सों में बँट गयी। फिर रूस के ख़िलाफ़ चीन अमरीका से मिल गया। इलाहाबाद में आदरणीय भैरव प्रसाद गुप्त 'परिमलियनों' के गले जा लगे, जिन्हें ज़िन्दगी भर वे गालियाँ देते रहे थे। और अब माओ का सितारा चीन में मन्द हो

रहा है तो हमारे यहाँ क्या समीकरण बनता है, चन्द दिनों तक पता चलेगा। इस ग़ुलामाना ज़ेहनीयत में वह पार्टी, जो काँग्रेस के बाद राष्ट्र का विकल्प बन सकती थी और जनता के दुख-दर्द का हल निकाल सकती थी, खण्ड-खण्ड हो कर बिखर गयी और पूँजीवाद की नींव इस देश में दृढ़-से-दृढ़तर हो गयी। ग़रीब और भी ग़रीब, अमीर और भी अमीर हो गये और भ्रष्टाचार का गन्दा लोहू समाज की नस-नस में फैल गया।... लेकिन राजनीति में यह होता है और जो लेखक राजनीति से--इस या उस महाशक्ति इस या उस राजनीतिक समीकरण से बँधे हैं, वे अपने विश्वास बदलते रहते हैं। मेरे जैसे स्वतन्त्रचेता लेखक के लिए, जो पश्चिम को वह नहीं देना चाहता जो वहाँ है, बल्कि वह देना चाहता है, जो यहाँ है, बाहर से आने वाले उन वादों और नारों और घोषणाओं के साथ चलना सम्भव नहीं, जो विदेशों के साहित्यिक फ़ैशनों अथवा राजनीतिक समीकरणों के साथ बदलते रहते हैं। जब मैंने 'डाची' या 'काकड़ाँ का तेली' या 'बरगद की बेटी' लिखी थी, मैं देहात में रहता था। बाद में शहर के निम्न-मध्यवर्गीय परिवेश में रह कर मैं मज़दूर-किसानों के बारे में कैसे लिख सकता था ? उन पर लिखने के लिए उनके बीच रहना, उनके साथ जीना ज़रूरी शर्त है। डॉक्टर राम विलास शर्मा सारी उम्र आगरे के कॉलेज में पढ़ाते रहे और लेखकों को यह उपदेश देते रहे कि वे मज़दूर-किसानों के बारे में लिखें। मख़दूम मुहीउद्दीन तेलंगाना का आन्दोलन चलाते थे और नज़्में रूमानी लिखते रहे। जबकि तेलंगाना के किसानों और उनके आन्दोलन पर जितना अच्छा वे लिख सकते थे, बम्बई या पंचगनी में बैठा मैं नहीं लिख सकता था। कृष्ण चन्द्र खार में एक हज़ार रुपया महीना के फ़्लैट में रहते रहे और पाँच-छै हज़ार रुपया महीना ख़र्च करते रहे। उनकी पत्नी ने लिखा है कि वे बढ़िया खानों और शराब के रसिया थे। मैं नहीं समझ पाता, वैसा जीवन जीते हुए, वे मज़दूर-किसानों की भयंकर भूख और उनके वास्तविक दुख को महसूस भी कर सकते थे। यही कारण है कि वे उनके बारे में फ़ार्मूलाबद्ध, झूठी, रूमानी कहानियाँ लिखते रहे और प्रगतिशील आन्दोलन के नेता बने रहे। मैं न तो ऐसी झूठी ज़िन्दगी जी सकता हूँ, न वैसा झूठा लिख सकता हूँ। वर्षों से मेरे सामने मेरा घर-द्वार, दोस्त-मित्र और मेरा निम्न-मध्यवर्गीय परिवेश, उसकी विसंगतियाँ और हकीकतें हैं। उस ज़िन्दगी में जो तथ्य या सूत्र मुझे आन्दोलित करते हैं, एक ही हकीकत के कई-कई पहलू नज़र आते हैं, मन में जो प्रश्न उठते हैं, उन्हीं के उत्तर पाने के लिए मैं कलम उठाता हूँ। मानव स्थिति और मानव नियति (ह्यूमन कण्डीशन और ह्यूमन डेस्टिनी) मेरे लेखन का विषय है। इधर मेरे एक एकांकी 'नया पुराना' को ले कर रूस और जर्मनी के आलोचकों में ख़ासी बहस छिड़ी है और माइन्ज़ विश्वविद्यालय (पश्चिमी जर्मनी) के हिन्दी अध्यक्ष प्रो. बुदरूस ने अपने निबन्ध में ठीक ही लिखा है :

> 'निस्सीम यथार्थता के असंख्य पहलुओं में से किसी पूर्व-कल्पित धारणा अथवा सैद्धान्तिक मत के अनुसार किसे स्वीकारा जाय और किसे नकारा, आधुनिक भारतीय यथार्थवादी लेखक के नाते अश्क इस का विचार नहीं करते। वे न तो यथार्थता के उस पक्ष की वकालत करते हैं जिसकी परिणति एक पक्षीय निराशावाद में होती है, न उसकी जो सकारात्मक आशावाद का रूप धरता है। मानवीय सम्भावनाओं के 'सत्य' का अनन्त क्षेत्र अश्क के साहित्यिक कृतित्व के लिए खुला है।'[१]

लेकिन इधर आप ह्यूमन कण्डीशन याने मानव के संघर्ष की बात कम और ह्यूमन डेस्टिनी याने मानव की विवशता की बात ज़्यादा करने लगे हैं। यही प्रकृति लेखक को व्यक्तिवादी भटकाव की ओर ले जाती है और उसकी रचना में समाज कम और व्यक्ति ज़्यादा महत्व प्राप्त कर लेता है।

यूँ तो मानव स्थिति और मानव नियति अन्योन्याश्रित है, लेकिन उस बहस में गहरे जायेंगे तो हमारी बातचीत साहित्य की पटरी से उतर जायेगी। तुमने मेरी इधर की कहानियों में 'समाज कम' और 'व्यक्ति ज़्यादा' की जो शिकायत की है, उसी के सन्दर्भ अपनी कहानियों के माध्यम से ही मैं अपनी बात समझाने की कोशिश करता हूँ। स्थिति यह है कि जब मैं ज़िन्दगी की हकीकतों की कुछ गहराई में उतरता हूँ तो मुझे कुछ ऐसे सत्य भी दिखायी देते हैं जो व्यक्ति-सत्य भी हैं और सामाजिक-सत्य भी और मैं उनकी गहराई में जा कर अपने निष्कर्षों तक पहुँचना चाहता हूँ। जब लेखन में प्रौढ़ता आती है तो ऊपरी स्तर पर नहीं आती, गहरे स्तर पर आती है। अब तुम 'पलँग' कहानी ही को लो, जो तुम्हारे निकट केवल व्यक्ति-सत्य की कहानी है।

जी हाँ !

मेरे नाटक 'अंजो दीदी' का जो आधारभूत विचार है, वह सामाजिक या कहें कि सार्वभौमिक सत्य को उद्‌घाटित करता है। लेकिन अगर गहराई से देखा जाय तो 'अंजो दीदी' और 'पलँग' के आधारभूत-सत्यों में बहुत अन्तर नहीं है। 'पलँग' में माँ अपनी इच्छाओं और कुण्ठाओं की पूर्ति अपने बेटे की शादी में सुहाग-कक्ष को सजा कर करना चाहती है। 'अंजो दीदी' में नाना अपनी नातिन से, नातिन अपने बेटे से, बेटा अपने बेटे से, अपनी कुण्ठाओं की पूर्ति चाहता है। इसी

---

१. ASHK as a great prolific realistic modern Indian author does not accept any preconceived conditions or dogmatic decisions concerning aspects of infinite reality which should be preferred or avoided in realistic art. ASHK advocates neither the one sided Yatharthvad if this amounts to tendentious pessimism, nor would he approve of the affirmative optimistic form of realism. His literary production is open to the full range of 'truth' of human possibilities. -- Georg Buddruss

हकीकत को और खींचो तो जिन देशों में तानाशाही होती है, वहाँ तानाशाह अपनी सनकों अथवा कुण्ठाओं की पूर्ति पूरे देश से चाहता है। रूस में स्तालिन ने और चीन में माओ ने तथा फ़ासिस्ट देशों में हिटलर और मुसोलिनी ने यही किया। व्यक्ति अपने कृत्यों के औचित्य की ख़ातिर सामाजिक सत्यों को तोड़-मरोड़ लेता है अथवा नये सत्य बना लेता है। विश्व-मंच पर अथवा सामाजिक मंच पर जो होता है, वही परिवार के मंच पर होता है। ऐसे में व्यक्ति-सत्य कहीं सामाजिक सत्य की गहराई में रहता है और दोनों ऐसे घूल-मिल जाते हैं कि पता पाना कठिन हो जाता है। तो जहाँ व्यक्ति-सत्य और सामाजिक-सत्य एक ही सतह पर आ जाते हैं, मुझे अभिव्यक्ति के लिए प्रेरित करते हैं। 'बेबसी' की आया, 'झाग और मुस्कान' की लल्लन और 'उबाल' के चन्दन को लो--ऊपरी नज़र से ये तीनों व्यक्ति-सत्य की कहानियाँ लगती हैं और मेरा उपन्यास 'गर्म राख' सामाजिक सत्य का। प्रगतिशील भी वह माना गया है। नेमिचन्द्र जैन और नामवर सिंह ने उसे 'गिरती दीवारें' से बेहतर करार दिया है। 'गर्म राख' में समाज की यथार्थताओं का गहरा और कटु चित्रण है और समष्टि-सत्य भी वहाँ उद्घाटित होते हैं। इसके बरअक्स ऊपरी दृष्टि से देखने पर 'उबाल,' 'बेबसी' तथा 'झाग और मुस्कान' ख़ालिस व्यक्ति-सत्य की कहानियाँ लगती हैं। या तुम समझते हो कि हैं (जब कि 'उबाल' समाज के एक कटु सत्य की कटुतम आलोचना में लिखी गयी कहानी है) लेकिन अगर गहराई से देखोगे तो 'गर्म राख' और इन तीनों कहानियों की मुख्य थीम में एक ही सत्य निहित है।

'उबाल' और 'गर्म राख'--दोनों व्यक्तिवादी रुझान की रचनाएँ हैं। कुछ प्रगतिशील आलोचकों के मत की बात करने में ये समष्टि-सत्य की रचनाएँ नहीं हो जातीं।

न तुम्हारे इस फ़तवे से वे कोरी व्यक्तिवादी रचनाएँ सिद्ध हो जायेंगी ! समष्टि-सत्यों और व्यष्टि-सत्यों में जहाँ मुझे समानता या कहूँ कि एक-सूत्रता अथवा सान्निध्य (जक्स्टापोज़ीशन) मिलती है। वहाँ मैं गहराई में जा कर जानना या जनाना चाहता हूँ कि वास्तव में सत्य क्या है, उसके कितने पहलू हैं। जो पाठक इस तरह मेरी कहानियों को दो-तीन बार पढ़ कर उसकी यथार्थता को जानने की कोशिश करेगा, वही उनका ठीक मूल्यांकन कर सकेगा। 'दो आने की मिठाई', छोटी-सी कहानी है, पर यदि ग़ौर से देखो तो वही थीम ज़रा फैल कर 'डाची' में और फिर और व्यापक धरातल पर मेरे उपन्यास 'पत्थर अल-पत्थर' में आयी है ! मैं अपने साहित्य से ऐसी और भी मिसालें दे सकता हूँ... निष्कर्ष रूप में कहूँ--कुछ हकीकतें हैं, जो व्यक्ति की भी हैं और समाज की भी हैं, और मुझे गहरे में आन्दोलित करती हैं। उन्हें मैं अभिव्यक्ति देता हूँ। अन्दर से मैं एक क्रुद्ध आदर्शवादी लेखक हूँ और जैसा कि मैंने कहा, मेरी कथनी और करनी में बहुत अन्तर नहीं है ! जब मैं व्यक्ति और समाज, उसके गुटों के छल-प्रपंच, झूठ,

रियाकारी, द्यूतता, शोषण, उत्पीड़न को देखता हूँ तो बुरी तरह आन्दोलित होता हूँ और मेरा क्रोध व्यंग्य के माध्यम से उन हकीकतों की अक्कासी करता है। हाँ, जैसा कि मैंने पहले कहा, मैं ऐसा करने में कला का दामन नहीं छोड़ता। मण्टो की तरह मैं स्वयं दख़लन्दाज़ी नहीं करता...

मण्टो की दख़लन्दाज़ी से आपका क्या अभिप्राय है ? प्रगतिशील आलोचक तो हर लेखक से समाज की यथास्थिति पर प्रहार करने के लिए कहते हैं। आप इस दख़लन्दाज़ी को ज़रूरी नहीं समझते ?

नहीं। यथास्थिति पर प्रहार कलापूर्ण रचना से भी उतना ही ज़बरदस्त, कहूँ कि गहरा, किया जा सकता है। मण्टो की कहानी 'दो गड्ढे' मे मण्टो सीधा कूद पड़ा है, जो उसे कहना है बरमला कहता है, पर वह कहानी 'टोबा टेक सिंह' से बेहतर है, यह कोई नहीं कह सकता। फिर चीनी कथाकार लू शुन ने तो अपनी कहानियों में कहीं दख़लन्दाज़ी नहीं की। अपनी बात कहने में उसने कला का पूरा ख़याल रखा है। सीधी दख़लन्दाज़ी करनी हो तो भाषण से बढ़ कर दूसरी विधा नहीं है। बात कलापूर्ण और सूक्ष्म, लेकिन पुर-असर ढंग से कहनी हो तो लेखकीय दख़लन्दाज़ी की ज़रूरत नहीं। अपनी रचनाओं में स्वयं मैं कहीं नहीं आता। मेरी रचनाएँ अपने पूरे परिवेश, चरित्र-चित्रण, सम्वादों और रूपाकार से उस सत्य की ओर इंगित करती हैं, जिसे मैं पाठकों तक पहुँचाना चाहता हूँ। मेरे पात्र--वह 'डाची' का बाकर हो, या 'पत्थर अल-पत्थर' का हसनदीन, 'चेतन' की माँ हो या 'उबाल' का चन्दन--कोई आन्दोलन नहीं करते, नारे नहीं लगाते, बहस नहीं करते, न लेखक ही उनके पक्ष से कुछ कहता है। अपनी बेबसी में वे सन्तुष्ट भी दिखायी देते हैं, लेकिन पूरी रचना उस व्यक्ति अथवा समाज के ख़िलाफ़ एक गहरा आक्रोश पाठक के मन में पैदा कर देती है, जो उन पर अत्याचार तोड़ता है या उसका शोषण करता है।

लेकिन अश्क जी, जिन कहानियों की मिसाल आपने दी है, उनमें अधिकांश पहले की कहानियाँ हैं। उनकी यथार्थता से इनकार है, न उनकी सामाजिकता से। जानना तो मैंने यह चाहा था कि आपकी इधर की कहानियों में से यह समाज-परकता, यह मानव का संघर्ष क्यों झीना हो गया और आप नियति की बात क्यों ज़्यादा करने लगे। लगता मुझे यह है कि आप शुरू से नियतिवादी रहे हैं। आपके पहले उपन्यास का नाम 'सितारों के खेल' इसी नियतिवाद को ध्वनित करता है और सुनता हूँ कि 'गिरती दीवारें' के अन्तिम खण्ड का नाम भी आप 'इति नियति' रखने जा रहे हैं...

रखने नहीं जा रहा। यूँ ही एक दिन नरेश मेहता से उपन्यास को डिसकस कर रहा था तो उन्होंने यह नाम सुझाया था, पर वह उस उपन्यास की पूरी बात को, या कहूँ कि मुख्य थीम को, संकेतित नहीं करता। नियति को मैं उपन्यास में ज़रूर डिसकस करना चाहता हूँ और ऐसे चित्रित करना चाहता हूँ कि पाठक

जान ले कि हाँ, नियति यूँ कार्यरत होती है, वह उसे स्पर्श कर सके, पर नियति उपन्यास के आधारभूत विचारों से महज़ एक है, मैं नियति को मानता हूँ, पर मैं नियतिवादी नहीं हूँ। उससे इनकार करने को मैं महज़ अज्ञान मानता हूँ। रेगिस्तान की ज़हरीली हवा (सिमूम) को आता देख शुतरमुर्ग रेत में सिर छिपा लेते हैं, पर उससे सिमूम तो ग़ायब नहीं हो जाती। न तुम्हारे या मेरे न मानने से नियति की सत्ता विलुप्त हो जायेगी। मानव की इस नियति को मैंने अपनी, अपने सगे-सम्बन्धियों, मित्र-परिचितों को ज़िन्दगी में भी देखा है और अपने गिर्दोपेश में जूझते अगणित मानवों की ज़िन्दगी में भी। दुर्भाग्य से हमारी नज़रें चाँद-सूर्य को देखती हैं या धूमकेतुओं को। बेगिनती टिमटिमाते सितारे हमारी नज़रों से ओझल रहते हैं। तो मैं चाँद-सूर्य और पुच्छल तारों के माध्यम से ही मानव नियति की बात तुम्हें समझाने की कोशिश करूँगा। समाजवादी देशों के चार डिक्टेटरों को लो, लुमुम्बा, ऑगस्टीनो नेटो, स्तालिन और माओ--इसमें लुमुम्बा पूरी ज़िन्दगी जीना तो दूर रहा, डिक्टेटर होने के कुछ देर बाद ही हत हो गये। ऑगस्टीनो नेटो स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद स्वाभाविक मृत्यु का शिकार हो गये, लेकिन स्तालिन और माओ अपनी पूरी ज़िन्दगी जिये। और अपनी ग़लत नीतियों के कारण लक्खोखा लोगों को मृत्यु का ग्रास बनाने के बावजूद, अन्तिम समय तक गद्दियों पर बने रहे और जनता द्वारा पूजे जाते रहे। उनके देहावसान के बाद क्या हुआ, इसे तुम भी जानते हो और मैं भी। लेकिन जब तक जिये, कोई उन्हें हिला नहीं सका। भले ही .ख्रुश्चेव ने स्तालिन का शव रेड स्क्वायर के मुसोलियम से हटा दिया, पर ज़िन्दगी में जब उन्होंने .ख्रुश्चेव को नाचने के लिए कहा तो वे मोटापे के बावजूद इनकार नहीं कर सके। अब दूसरे ख़ेमे के पुच्छल तारों को लो। हिटलर, मुसोलिनी और फ्रांको। इनमें हिटलर और मुसोलिनी अपनी तमाम शक्तिमत्ता के बावजूद पूरी ज़िन्दगी नहीं जिये और फ्रांको जो उन्हीं जैसे फ़ासिस्ट तानाशाह थे, अन्तिम समय तक गद्दी पर बने रहे। क्यों स्तालिन और माओ पूरी ज़िन्दगी गद्दियों पर बने रहे और उनके विरुद्ध किया गया कोई षडयन्त्र सफल नहीं हुआ। और लुमुम्बा और ऑगस्टीनो नेटो असमय काल-कलवित हो गये ? क्यों हिटलर और मुसोलिनी का असमय अन्त हुआ और फ्रांको उन जैसे ज़ालिम फ़ासिस्ट होने के बावजूद अन्त तक बने रहे ? साधारण मानवों के जीवन की ऐसी घटनाओं पर किसी की नज़र नहीं आती, पर विश्व-मंच पर घटित होने के कारण उन घटनाओं को हम देख लेते हैं। एक व्यक्ति या नेता का उत्थान पूरे देश के और समाज के भाग्य को बदल देता है, एक सशक्त नेता की कुण्ठा अथवा ग़लत सोच अथवा फ़्रस्ट्रेशन या पद-च्युत होने का भय लक्खोखा लोगों को जेल की हवा खिला देता है। उसके कृत्यों के औचित्य की ख़ातिर सामाजिक सत्य खोज लिये जाते हैं। कहाँ समाज व्यक्ति को बनाता-बिगाड़ता है और कहाँ व्यक्ति से समाज ही नहीं, पूरा देश

प्रभावित होता है--ये हकीकतें कोरे नारों अथवा जड़ सामाजिक सिद्धान्तों से नहीं जानी जा सकतीं। दूर की बात छोड़ो। हमारे सामने अभी एक नेता का उत्थान-पतन और पुनरुत्थान और नियति के हाथों एक उभरते हुए युवा नेता का असामयिक अन्त हज़ारों-हज़ार लोगों का भाग्य बना-बिगाड़ गया। क्या तुम कह सकते हो कि इन घटनाओं का समाज अथवा देश के वर्तमान और भविष्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा ? कहाँ सामाजिक स्थिति एक व्यक्ति को बना या बिगाड़ देती है और कहाँ एक व्यक्ति पूरे समाज और देश और कई बार समूची मानवता को प्रभावित कर जाता है, इसके बारे में एक सत्य या सूत्र दे कर छुट्टी नहीं मिलती। ये सब हकीकतें एक-दूसरे से ऐसे घुली-मिली हैं कि इन्हें अलग-अलग करके नहीं परखा जा सकता। स्वयं मार्क्स के उदय के बाद दुनिया फिर वैसी पुरानी दुनिया नहीं रही। उसके विचारों का प्रभाव सारे विश्व पर पड़ा। इसे देखते हुए व्यक्ति की सत्ता को कैसे नकारा जा सकता है। मैं व्यक्तिगत रूप से न कोरे व्यक्तिवाद में विश्वास करता हूँ, न कोरे समाजवाद में और न निपट नियतिवाद में। प्रोफ़ेसर बुदरूस ने मेरे बारे में ठीक ही कहा है--मैं मानव सम्भावनओं के 'सत्य' का अपरिमित क्षेत्र अपने सामने खुला पाता हूँ और उसमें सत्य का जो पहलू मुझे आन्दोलित करता है, उसे कलम की नोक पर रख कर जाँचता-परखता हूँ। एक अकेले मानव के अहं से समाज और देश के अहं तक पहुँचा जा सकता है। जब तक स्तालिन ज़िन्दा रहे, माओ ने विद्रोह नहीं किया। तब वे समझते थे कि विश्व-साम्यवाद स्तालिन के बाद उन्हें अपना नेता मान लेगा। लेकिन .ख्रुश्चेव ने सह-अस्तित्व की थ्योरी पेश करके विश्व-मंच को सँभाल लिया तो यद्यपि .ख्रुश्चेव की नीति में दोष नहीं था, माओ ने उन्हें संशोधनवादी करार दे कर पूरे साम्यवादी आन्दोलन को भंग कर दिया। .ख्रुश्चेव के अहं में व्यक्तिगत अहं के अलावा देश का अहं भी शामिल था और वैसे ही माओ के अहं में चीन का अहं। दोनों मार्क्सवादी, लेकिन दोनों देश एक-दूसरे के शत्रु हो गये और एक ज़बरदस्त आन्दोलन खण्ड-खण्ड हो गया। मानव स्थिति और मानव नियति हज़ारों-हज़ार प्रश्न उठाती है और इनमें से हर प्रश्न लेखक को अभिव्यक्ति के लिए प्रेरित कर सकता है। अणु को जान कर हम परमाणु को जान सकते हैं और इसका उलट भी सही है। इस सब फ़िनामिना के बारे में मैं प्रश्नों का हल भी देता हूँ और प्रश्न उठाता भी हूँ और स्वतन्त्र लेखक के नाते मैं इसी को अपना दायित्व मानता हूँ।

तो क्या इसी नियतिवाद के चक्कर मे आप की रचनाओं में सामाजिक संलग्नता की बात गौण हो गयी ? मैंने जो प्रश्न पहले किया था, उसका आपने समुचित उत्तर नहीं दिया।

उत्तर तो मैंने दे दिया था, लेकिन तुम पंजाबी मदारी की तरह 'तो भी न मानूँ, तो भी न मानूँ' की रट लगाये जा रहे हो। सामाजिक संलग्नता मेरी इधर की

रचनाओं में देखना चाहते हो तो तुम्हें मेरे इधर के नाटकों और काव्य को भी लेना होगा। पहले की रचनाओं में 'बरगद की बेटी' और 'चाँदनी रात और अजगर' और बाद की रचनाओं में 'बकरोटे की ढलान पर' और मेरे ताज़ा काव्य-संग्रह की कम-से-कम आधी कविताओं में तुम्हें वह दिखायी दे जायेगी। 'बरकोटे की ढलान पर' का उल्लेख करते हुए कुछ वर्ष पहले एक संसद सदस्य ने 'दिनमान' में लिखा था कि पहाड़ी-श्रमिक की दुखद स्थिति के बारे में दसियों लेखों पर अश्क की कविता भारी पड़ती है। निराला की कविता 'भिक्षुक' की बहुत प्रशंसा हुई, 'बकरोटे की ढलान पर' उससे कहीं सशक्त कविता है, पर मैं बैसवाड़े का नहीं हूँ, वरना डॉ. राम विलास शर्मा की नज़र उस पर ज़रूर पड़ती।

> **क्षमा कीजिएगा अश्क जी, निराला का काव्य-संसार आपके काव्य-संसार से नितान्त भिन्न है। भाव, विचार, भाषा और शिल्प की दृष्टि से आप निराला से कहीं पीछे हैं। मुझे शक है कि आप बैसवाड़े के होते तो भी डॉ. रामविलास शर्मा 'बकरोटे की ढलान पर' को 'भिक्षुक' से सशक्त रचना कहने का दुःसाहस करते।**

सवाल सारे रचना-संसार का नहीं, न मैंने अपने आपको निराला से बड़ा कवि कहा है, सवाल सिर्फ़ एक कविता का है। मैं बैसवाड़े का होता तो भले ही मेरी कविता को डॉ. राम विलास शर्मा निराला की 'भिक्षुक' या 'तोड़ती पत्थर' से कमतर समझते, पर उसका उल्लेख ज़रूर करते। फिर यदि तुम या डॉ. रामविलास उस कविता को सशक्त नहीं मानते तो दूसरे भी नहीं मानेंगे--यह तुम कैसे कह सकते हो ? निराला ने 'भिक्षुक' में माँगने के लिए आते हुए भिक्षुक और उसके दो बच्चों का बड़ा यथार्थ चित्र खींचा है, पर यह बात मत भूलो कि वे पेशेवर माँगने वाले भी हो सकते हैं और जिस समाज में वे पनपते हैं, उसकी ओर निराला ने कोई संकेत नहीं किया, जबकि 'बकरोटे की ढलान पर' में उस जान तोड़ कर मेहनत करने वाले, लेकिन इस पर भी भर पेट न पाने वाले के यथार्थ चित्रण के साथ कवि का आक्रोश व्यवस्था पर भी प्रकट होता है। शायद यही कारण है कि उपर्युक्त सांसद को वह ऐसी सशक्त लगी।

लेकिन वही कविता नहीं, मेरे नये काव्य संग्रह 'अदृश्य नदी' में, जैसा कि मैंने पहले कहा, एक पूरा खण्ड सामाजिक लौर राजनीतिक परिस्थितियों से जुड़ी कविताओं का है और कटु व्यंग्य के माध्यम से मैंने व्यवस्था और समाज पर तीखे प्रहार करते हुए कहीं संकेत रूप में और कहीं खुले ढंग, से अपनी बात कही है--'अकाल पर तीन कविताएँ,' 'चिराग जलाये बिना,' 'बरसते पानी में,' 'सफ़ेद फूल,' 'अपने तख़्त के पायों पर' और 'दोनों दरवाज़ों के बीच' पूरी तरह सामाजिक संलग्नता की कविताएँ हैं। मैं १९३६ से हिन्दी में कविताएँ लिखता आ रहा हूँ, पहले संग्रह को छोड़ दूँ तो शेष सातों संग्रहों में तुम्हें समाज में मेरी संलग्नता दिखायी दे जायेगी। पिछले दिनों बच्चन जी ने एक काव्य-संग्रह

संकलित किया, जिनमें इमरजेंसी के दिनों में लिखी गयी मेरी चार कविताएँ दीं। अभी दो वर्ष पहले देश में सम्पूर्ण क्रान्ति का तूर फुँका। जैसे वह सम्पूर्ण क्रान्ति हुई और उसका जो हश्र हुआ, उस पर मैंने एक कविता लिखी थी। गत वर्ष मैंने दिल्ली के प्रगतिशील लेखक संघ की एक बैठक में सुनायी थी और श्रोताओं ने भरपूर दाद दी थी ! कुछ पंक्तियाँ सुनो :

सुनाइए !

एक वातानुकूलित कमरे से उठा था
सम्पूर्ण क्रान्ति का नारा
जैसे गैस भरा रंगीन गुब्बारा
ऊपर उठता चला गया--देश के आकाश पर

अपने आरामदेह कमरों में बैठे भद्र लोग
यूँ सम्पूर्ण क्रान्ति की बात करते थे--
जैसे वह उनके किचन में तैयार हो रही हो
और उनके सुयोग्य बेयरे
गर्मागर्म पुलाव की तरह
उसे प्लेटों में सजा कर
उनके आगे परोस देंगे।

सम्पूर्ण क्रान्ति वे नहीं जानते
जनता के ख़ामोश ज्वालामुखी का विस्फोट होगा।
जिसमें सदियों की घुटन, दबाव-तनाव
भयंकर वेग से फूटेगा
और जनता के क्रोध का लावा
आतताइयों पर टूटेगा

सम्पूर्ण क्रान्ति वे नहीं जानते--आग होगी
जो ग़रीबों की जलती हुई झोपड़ियों से निकलेगी
और ज़ालिमों की ज़मींदारियाँ
और महल-माड़ियाँ जलाती चली जायेगी

सम्पूर्ण क्रान्ति वह तीखा और तेज़ निश्तर होगा
जो देश के पुराने और टीसते फोड़ों को यकसर खोल देगा
और गन्दे ख़ून से देश की नालियाँ पट जायेंगी

सम्पूर्ण क्रान्ति वह ज़हर भरी हवा होगी
जो देश की रगों में
फैलते ज़हरबाद को काटेगी
ताज़ा और नया ख़ून बहायेगी
देश को फिर से स्वस्थ और जीवन्त बनायेगी

तभी हम कहेंगे "ज़िन्दाबाद" और हमारे नेता--
(जो भी ऐसी क्रान्ति लायेंगे) "पायन्दाबाद।"
अभी तो व्यवस्था वही पुरानी है
और वह रंगीन गुब्बारा--
जो बोतल से निकले देव का-सा
देश के आकाश को छाये था--
मरी हुई तितली-सा नीचे आ पड़ा है।

बात आपकी इधर की व्यक्तिवादी रुझान की कहानियों को ले कर हो रही थी, जिनमें आपके मानसिक ग्रन्थियों की मनोवैज्ञानिक खोज की है और मैं कहना चाहता हूँ कि वैसी मनोवैज्ञानिक खोज का वास्तव में कलावादी और अमानवीय लेखन है।

यह तुम्हारे अन्दर का नया मुल्ला बोल रहा है। अभी-अभी प्रगतिशील हुए हो न ! वैसा लेखन कलावादी तो हो सकता है, लेकिन अमानवीय कैसे हो जायेगा, क्योंकि मनोविज्ञान की खोज तो लेखक मानवों की ही करता है, पशुओं की नहीं, फिर जिन कहानियों में मनोवैज्ञानिकता नहीं, यथार्थवादिता नहीं, उन बनी हुई कहानियों को लिखने का क्या प्रयोजन है ?

आप अपनी कहानी 'मरना और भरना' को ही लीजिए। उसका क्या प्रयोजन है ? उसकी सामाजिक उपादेयता शून्य है। मेरा मतलब है कि सेक्सगत कुण्ठाओं को किसी भी प्रगतिशील लेखक ने अपनी रचनाओं का आधार नहीं बनाया।

उसमें सेक्सगत कुण्ठा कहाँ है, वह तो सीधी-सादी एक आध्यात्मिक नुक्ते की कहानी है।

अध्यात्म को आप उस कुण्ठा में कहाँ से ले आये ?

वह नुक्ता उसके आधारभूत विचार में है। आम कहावत है 'धन जोबन का मान न करिए।' इस कहानी में केवल यौवन के मिथ्याभास का मान न करने की बात कही गयी है, किसी सेक्सगत कुण्ठा की नहीं।

कैसे ?

बात यह है कि आदमी कई बार सुन-पढ़ कर भी बहुत-सी हकीकतों को नहीं जानता। कई सत्य उसकी समझ में तब तक नहीं आते, जब तक उनसे उसका

सीधा साक्षात्कार नहीं होता। मौत की यथार्थता को लो। बराबर के घर में पड़ोसी का जवान बेटा मर जाता है। हम जा कर अफ़सोस भी कर आते हैं, लेकिन हम पर वैसा असर नहीं होता। पंजाब के सूफ़ी सन्त छज्जू की बात मशहूर है। जब किसी के यहाँ मृत्यु हो जाती थी तो वह अर्थी के आगे इकतारा बजाता हुआ शरीर की नश्वरता के गीत गाता था। फिर उसका अपना बेटा दिवंगत हो गया। इकतारा वह तब भी बजा रहा था, पर उसके स्वर में वह बात नहीं थी।

लेकिन छज्जू के इस आख्यान से आपकी कहानी 'मरना और मरना' का क्या सम्बन्ध है ?

सम्बन्ध है। मुझे अपनी बात कह लेने दो। हमारी ज़िन्दगी की एक आम हकीकत है जिसे इस कहानी से माध्यम से उकेरा गया है। वह है पुंसत्व की।

पुंसत्वहीनता की कहिए।

ठीक कहूँ तो पुंसत्वाभास की। मैंने देखा है कि लोग अपनी शक्ति को बढ़ाने के लिए औषधियों का सेवन करते हैं। टेस्टोस्टेरॉन के इंजेक्शन लेते हैं। माउलहम का उपयोग करते हैं। यहाँ से ले कर इंग्लिस्तान तक मैंने लोगों को इन दवाओं का प्रचुर प्रयोग करते देखा है।

आप लेखन के साथ-साथ इस धन्धे को क्यों नहीं अपना लेते ?

मैं कालिया होता तो शायद अपना लेता !... इंग्लिस्तान में हमारे कुछ नीम-हकीमों और वैदों की प्रैक्टिस ख़ूब चलती है। मेरे एक परिचित हैं। डॉक्टर धर्मपाल ! कभी नारेबाज़ प्रगतिशील थे। अब लन्दन में डॉक्टर कहाते हैं। मतिब खोले हैं। हमदर्द दवाख़ाने के एजेण्ट हैं। एक मतिब उनका ऑक्सफ़ोर्ड स्ट्रीट की एक गली में है, दूसरा साउथहॉल में। तीन फ़ोन हैं, कार है, सेक्रेट्री है। पॉलिटिकिंग अब भी करते हैं। प्रगतिशील भी हैं। सेक्स की पोटेंसी बढ़ाने वाली दवाई ख़ूब बेचते हैं। तभी जब मैं पुराने ज़माने के राजे-महाराजाओं और नवाबों की जीवनियाँ पढ़ता हूँ तो लगता है कि आदि काल से यह सिलसिला चला आ रहा है। लोगों की शक्ति चुक जाती है और दवाओं के बल पर वे झूठे पुंसत्वाभास के शिकार हो जाते हैं--ययाति के आख्यान को पढ़ने और यौवन का मान न करने की बात जानते हुए भी। ज़ाहिर कि उस आभास से सन्तुष्ट भी रहते हैं। लेकिन जैसे आदमी मौत की हकीकत को अपने निजी अनुभव से जानता है, उसी तरह 'मरना और मरना' का नायक--जो अपने उस पुंसत्वाभास में मगन है, जिसके दिमाग़ में अपनी जवानी का एक दृश्य बार-बार आता रहा है--जब डिब्बे में हैज़े से बीमार अफ़सर की विसुध स्थिति के माध्यम से उस पुंसत्व की हकीकत को समझता है जो अन्दर से कहीं मर जाता है। रोगी शायद नहीं मरता, क्योंकि उसे डॉक्टर ले जाते हैं, पर कहानी के नायक का पुंसत्वाभास ख़त्म हो जाता है।

यह एक बहुत गहरी कहानी है। सेक्स और लिंग तो एक माध्यम है बात कहने का। बात जो कही गयी है उसको समझने की कोशिश करो। अब जो लोग साहित्य सागर के ऊपर-ऊपर तैरते हैं, उसमें डूबते नहीं, उनके बारे में मैं क्या बात कह सकता हूँ।

आपकी रचनाओं के सन्दर्भ में एक प्रश्न बार-बार उठाया जाता है। आपके उपन्यास 'गिरती दीवारें,' 'शहर में घूमता आईना,' 'एक नन्हीं किन्दील,' 'बड़ी-बड़ी आँखें'--मेरा मतलब आपकी अधिकांश चर्चित कृतियाँ स्वतन्त्र्यान्दोलन के समय की रचनाएँ हैं। क्या कारण है कि उन रचनाओं में हमारे स्वतन्त्रता-संग्राम या राष्ट्रीय आन्दोलन से कोई भी संलग्नता नज़र नहीं आती। जबकि आपके पूर्ववर्ती कथाकार प्रेमचन्द, जिनकी जन्म शताब्दी आजकल मनायी जा रही है, अपने समय और इतिहास को अपनी रचनाओं के माध्यम से लगातार व्याख्यायित करते रहे। आपकी रचनाओं से यह सरोकार क्यों ग़ायब है ?

मैंने लिखना तो प्रेमचन्द के ज़माने में ही शुरू किया। मेरी बहुत-सी आरम्भिक कहानियाँ पुस्तक रूप में नहीं छपीं। चालीस-पचास के करीब होंगी। उनमें यह संलग्नता भरपूर है। लेकिन कहानियाँ वे उच्च कोटि की नहीं हैं। उनमें क्रान्तिकारियों की कहानियाँ भी है और स्वतन्त्रता-आन्दोलन की भी।

मैं आपकी महत्वपूर्ण केन्द्रीय रचनाओं की बात करता हूँ।

मुझे बात ख़त्म कर लेने दो। प्रेमचन्द के देहावसान से दस-बारह वर्ष पहले मैंने लिखना शुरू किया। उन अर्थों में मैं प्रेमचन्द का समकालीन हूँ। पहले लाहौर षड्यन्त्र केस के अभियुक्त रणवीर सिंह वीर की कहानियों से प्रभाव ग्रहण कर मैंने क्रान्तिकारियों की कहानियाँ (भले ही काल्पनिक) लिखीं, क्योंकि क्रान्तिकारियों के जीवन का सीधा परिचय नहीं था। फिर 'सोज़-ए-वतन' और प्रेमचन्द की अन्य कहानियों को पढ़ कर बहुत-सी आन्दोलन-सम्बन्धी कहानियाँ लिखीं। प्रेमचन्द के लेखन की पूरी प्रक्रिया उन कहानियों में विद्यमान है--यदि कोई मेरी शुरू की कहानियों में उस प्रक्रिया की खोज करे तो ! प्रेमचन्द केवल ५६ साल की उमर में दिवंगत हो गये। यदि आज वे जीवित होते तो क्या लिखते, कैसा लिखते, यह मैं या तुम कैसे प्रिडिक्ट कर सकते हैं। मेरा ख़याल है, मेरी तरह ही लिखते। क्योंकि जैसी आदर्शोन्मुख कहानियाँ वे पहले लिख रहे थे, उनके बदले यथार्थवादी कहानियाँ लिखने लगे थे। उनका अन्तिम उपन्यास 'गोदान' मोहभंग का उपन्यास है। पहले जैसी आदर्शवादिता उसमें नहीं हैं। और 'कफ़न' ही की तरह उस उपन्यास को भी पहली बार कटु यथार्थ का संस्पर्श मिला है। कहना मैं यह चाहता हूँ कि मेरी रचनाओं में समाज अथवा निचले वर्ग अथवा राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति सब तरह की संलग्नता है--उस ज़माने के तमाम आन्दोलन--चाहे वह खादी आन्दोलन हो, या नमक का आन्दोलन या हिन्दू-मुस्लिम एकता का या विदेशी कपड़ों के बाइकाट का--ये सब प्रतिबिम्बित हुए हैं। कहानियाँ वे जैसा

कि मैंने कहा, आरम्भिक और त्रुटिपूर्ण हैं, क्योंकि तब मैं बच्चा था। नया-नया ही तो लिखने लगा था। यूँ 'सोज़-ए-वतन' की कहानियाँ भी उच्च कोटि की नहीं हैं।

प्रत्येक कलावादी लेखक इसी तरीके से सोचता है।

कला और शिल्प न हो तो कहानी और भाषण में क्या अन्तर है ?

प्रेमचन्द की श्रेष्ठतम रचनाओं में जैसे 'रंगभूमि' में...

मुझे अपनी बात ख़त्म कर लेने दो। जब मेरी कलम में ज़ोर आया, तब प्रेमचन्द ने जो कहानियाँ लिखीं, उनमें 'नशा', 'बड़े भाई साहब', 'मनोवृत्ति', और 'कफ़न' प्रमुख हैं और उपन्यास 'गोदान !'--ये सब मोहभंग की रचनाएँ हैं। 'गोदान' में तो शिल्पगत दोष हैं, लेकिन ये चारों कहानियाँ पूरी तरह कलापूर्णा और मनोवैज्ञानिक हैं--प्रेमचन्द की पहले की कहानियों की अपेक्षा। मैंने वहीं से प्रेरणा ली--अपनी यथार्थवादी कहानियों की भी और अपने उपन्यास 'गिरती दीवारें' की भी। वे उनकी अन्तिम रचनाएँ हैं।

अन्तिम रचनाओं में जैसे देखिए 'कफ़न' है, खेतिहर किसानों के अमानवीय जीवन के जो समाचार आज आ रहे हैं, उसका चित्रण प्रेमचन्द ने इतने वर्ष पहले 'कफ़न' आदि रचनाओं में कर दिया था। इसी प्रकार हरिजन-समस्या पर उन्होंने अनेक रचनाएँ दीं, जो आज भी प्रासंगिक हैं।

और मेरी कहानी 'झाग और मुस्कान' में हरिजन-समस्या कैसे नहीं है ?

और...

मेरी बात सुनो। उस कहानी में जो समस्या है, क्या वह आज ग़ायब हो गयी है या क्या वह हरिजन-समस्या नहीं है ?

प्रेमचन्द ने हरिजनों, किसानों और समाज के उस वर्ग को अपनी रचनाओं में लिया, जो सदियों से शोषित है। उनकी पूर्ण सहानुभूति समाज के इस शोषित वर्ग के साथ रही।

यह माना मैंने।

लेकिन आपके यहाँ ऐसा नहीं है। आपकी रचनाओं का मूल स्वर प्रेमचन्द से भिन्न है।

इसकी वजह यह है कि प्रेमचन्द का परिवेश गाँव का परिवेश था। वे लमही में पले। अपनी ज़िन्दगी के वे वर्ष जिसमें लेखक सर्वाधिक इम्प्रेशन ग्रहण करता है, उन्होंने उत्तर प्रदेश के गाँवों और उसकी ग़रीबी में गुज़ारे। ज़ाहिर है कि जिस ज़िन्दगी के गहरे इम्प्रेशन उनके मन पर पड़े, उसे ही उन्होंने ज़िन्दगी भर चित्रित किया। हर बड़ा लेखक यही करता है। मैं तो केवल पहली बार एक महीना बहावलपुर के देहात में रहा। और मैंने 'डाची' लिखी, फिर डेढ़ वर्ष मध्य पंजाब के देहात में रहा और मैंने 'काकड़ाँ का तेली' और 'बरगद की बेटी' लिखी और

ये मेरी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं और इनके केन्द्र में वही शोषित किसान और धरती विहीन मज़दूर है, लेकिन मत भूलो कि मैं शहर में एक निम्न-मध्यवर्गीय परिवार में पैदा हुआ। मेरे पिता स्टेशन मास्टर थे। मुझ से अपेक्षा रखना कि मैं प्रेमचन्द की तरह किसान-मज़दूरों के बारे में लिखूँ, जिनके जीवन को मैंने निकट से नहीं देखा, ग़लत होगा। मैं फ़ैशन में या महज़ राजनीतिक मसलहत से ऐसा लिखूँगा तो मैं कृष्ण चन्द्र की तरह काल्पनिक और झूठी कहानियाँ लिखूँगा। मेरे पिता चाहते थे कि बेटा आई. सी. एस. बने, जबकि किसान का पिता चाहता है, बेटा किसानी करे, पैसा कमाये तो चार बीघे ज़मीन बढ़ाये। किसान को अपनी ज़मीन से बहुत लगाव होता है। प्रेमचन्द ने उस लगाव को निकट से महसूस किया होगा। मेरे पिता सरकारी नौकरी करते थे। स्टेशन मास्टर उस ज़माने में स्टेशन का सम्राट होता था। उस सर्विस में जो बुराइयाँ-अच्छाइयाँ थीं--वे सब उनमें भी थीं। मैंने उनकी बहुत-सी नसीहतें मानीं, लेकिन माँ की सीख के कारण मैं उनकी बहुत-सी मान्यताओं से विद्रोह करता था। कमज़ोर और बीमार था। मैं लेखक बन गया। पर चित्रण तो मैं अपने परिवेश का ही करता, प्रेमचन्द के परिवेश का कैसे करता ? मुझ से वैसी अपेक्षा ही ग़लत है ! हाँ, साहित्य की उपादेयता वाली दृष्टि मैंने प्रेमचन्द से ली। प्रेमचन्द ने पहली बार अपना झूठा आदर्शवाद छोड़ कर 'गोदान' में यथार्थवादी दृष्टि अपनायी और उस परिवेश के प्रतिनिधि पात्र का चित्रण किया। मैनें 'गोदान' ही से प्रेरणा पा कर अपने परिवेश के प्रतिनिधि युवक के संघर्षों का, उसके परिवेश की तमाम विसंगतियों का उद्घाटित करते हुए, चित्रण किया। फिर मेरे लेखन में उन सूत्रों का भी कम हाथ नहीं, जो प्रेमचन्द ने अपने पत्रों में समय-समय पर मुझे दिये।

क्या स्वाधीनता आन्दोलन का निम्न-मध्यवर्ग पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

जितना था, वह उसमें प्रतिबिम्बित है। मेरे परिवेश पर जितना था, उतना भर है। लोग ध्यान से पढ़ते नहीं और एतराज़ करते हैं तो मैं क्या करूँ।

मैंने तब अश्क जी आपकी 'गिरती दीवारें' पढ़ी है। सरे राह कहीं ज़िक्र आ गया हो तो दीगर बात है।

ध्यान से नहीं पढ़ी होगी। उस में, 'शहर में घूमता आईना' और 'गर्म राख' में १६२१ के आन्दोलन की झलक है, ख़िलाफ़त आन्दोलन, विदेशी कपड़ों के बाइकाट, विदेशी कपड़ों की होली, स्कूलों के बाइकाट, जलूसों, जलसों और पुलिस के दमन का चित्रण है। केन्द्र में वह सब इसलिए नहीं है कि मेरा नायक उस संग्राम का केन्द्रीय पात्र नहीं है। वह हज़ारों-लाखों दूसरे शहरियों की तरह उसमें हिस्सा ले कर भी उसके दर्शक जैसा है। 'शहर में घूमता आईना' में महात्मा गांधी की नकल करने वाले दोआबे के गांधी का उल्लेख है, ग्यारह बार जेल जाने वाले सिटी कांग्रेस कमेटी के सेक्रेट्री का उल्लेख है, जिसे १६३५ के

चुनावों में (सुभाष बाबू की अध्यक्षता के दिनों में) एक भ्रष्ट सेठ के मुकाबिले में टिकट नहीं दिया गया। 'गर्म राख' में न केवल एक पूरा परिच्छेद राष्ट्रीय गीतों का है, वरन् युद्ध से ज़रा पहले शुरू होने वाले बूचड़ख़ाना आन्दोलन और बस यूनियन की स्ट्राइक का विशद चित्रण है।

आपने बाद के संस्करणों में जोड़ दिया होगा।

मेरी लायब्रेरी में आ कर पहले संस्करण पढ़ लो। फिर शोषण की झलक देखनी हो तो 'डाची,' 'काकड़ाँ का तेली,' 'बरगद की बेटी,' 'चाँदनी रात और अजगर,' 'मेमने,' 'दो आने की मिठाई,' 'देवताओं की छाया में,' 'तूफ़ान से पहले' और पत्थर अल-पत्थर' पढ़ो।

वह तो आपकी श्रेष्ठ रचना है। आपकी प्रारम्भिक रचनाओं में यह भटकाव नहीं था।

लेकिन 'पत्थर अल-पत्थर' मेरी पहले की रचना नहीं है। वह तो मैंने १९५७ में लिखी। रही 'बड़ी-बड़ी आँखें' तो उसमें नबी के बारे में तुम क्या कहोगे ? उस भूमिहीन किसान-मज़दूर लड़के के प्रति सहानुभूति और संलग्नता क्या उस उपन्यास में दिखायी नहीं देती ? क्या वह उपन्यास अपने ज़माने और इतिहास से जुड़ा नहीं है। कसूर मेरा नहीं, देखने वालों की आँखों और उनकी समझ का है। ऊपरी दृष्टि से देखने पर तो 'बड़ी-बड़ी आँखें' एक असफल प्रेम की रूमानी कहानी है, पर ज़रा गहराई में जाइए। पूरा-का-पूरा देव नगर एक ऐसे देश का प्रतीक बन जाता है, जिसका सर्वेसर्वा बड़े आदर्श की बातें करता है, पर जिसकी ऐन नाक के नीचे, भ्रष्टाचार, स्वजन पालन, धोखा-धड़ी, छल-कपट, शोषण और उत्पीड़न पल रहा है और उपन्यास का नायक सोचता है कि जब तक उस व्यवस्था को ऊपर से नीचे तक नहीं बदला जाता, उस देश का कुछ नहीं होगा ! यही तो उस उपन्यास का मर्म है। यही तो उसका निष्कर्ष है। हाँ, यह सब वहाँ बड़ी बारीकी से कहा गया है। अब यदि हिन्दी के अधिकांश अध्यापक-आलोचक उतनी बारीकी से रचना नहीं पढ़ते और बेकार की आपत्तियाँ करके रचना का अवमूल्यन करना चाहते हैं तो मैं क्या कर सकता हूँ। लेकिन कोई मेरे इन उपन्यासों के मर्म पर उँगली रखने वाला, कोई उनका सही मूल्यांकन करने वाला है ही नहीं, ऐसा भी नहीं है। पाठक करते हैं या जैसा कि मैंने कहा रूस, अमरीका, जर्मनी, इंग्लिस्तान में इन पर पेपर लिखे गये है और उनका सही मूल्यांकन भी हो रहा है।

मगर यह सच है कि राष्ट्रीय आन्दोलन के परिप्रेक्ष्य में या उसे आधार बना कर आपने कोई महत्वपूर्ण रचना नहीं की।

हर लेखक ऐसा करे यह ज़रूरी नहीं। शरत ने नहीं की, टैगोर ने नहीं की। मैं वैसा करता तो शायद झूठी ही रचना होती।

□ □

आपके बारे में एक शिकायत यह भी है कि आपने विभाजन की विडम्बना पर भी कुछ नहीं लिखा।

मैं उन दिनों वहाँ होता तो ज़रूर लिखता। मैंने पहले कहा न कि मेरी सीमाएँ हैं। मैं फ़र्स्ट हैण्ड अनुभव के बिना कम ही लिखता हूँ। यशपाल लिखते थे। मैं नहीं लिखता।

लेकिन कृष्ण और मण्टो ने तो लिखा है।

विभाजन के बारे में कृष्ण का सारा लेखन झूठा और काल्पनिक है। उस वक्त के प्रगतिशील फ़ार्मूले के अनुसार कृष्ण ने दोनों जातियों के ज़ुल्म या करुणा में कुछ अजीब-सा सन्तुलन बनाये रखने की कोशिश की है, कि अगर चार मुसलमान मारे गये तो चार हिन्दू तह-तेग़ किये गये। किसी हिन्दू ने मुसलमान को बचाया तो मुसलमान ने हिन्दू की रक्षा की। विभाजन की भयानक विभीषिका और उसमें इच्छा-अनिच्छा से फँसे लोगों ने मनोविज्ञान का कृष्ण की कहानियों में कोई चित्रण नहीं। विभाजन पर लिखी कृष्ण की एक भी कहानी ए-वन नहीं लिखी गयी--ए-वन, जो दिल-दिमाग़ पर अमिट असर छोड़ जाय। हाँ, मण्टो ने कुछ बहुत ही अच्छी कहानियाँ लिखी है। लेकिन मण्टो तो वहाँ चला गया। उसके भावप्रवण और सम्वेदनशील मन ने तो उस तकलीफ़ को महसूस किया था। पाकिस्तान जा कर मण्टो ने कुछ अमर कहानियाँ लिखीं। मैं मगर उस विभीषिका के निकट होता तो असम्भव था कि न लिखता।

आप उस वक्त कहाँ थे ?

मैं पंचगनी के 'बेल एयर सैनेटोरियम' में यक्ष्मा का मरीज़ था। तो भी एक कहानी मैंने लिखी--'टेबल लैण्ड !' वैसे ही जैसे 'बंगाल के अकाल' के दिनों में एक कहानी लिखी थी--'खटक !' देखो भाई, साहित्य में झूठ नहीं चलता। कोई लिखता है तो उसका कोई इम्पैक्ट नहीं पड़ता। उन तमाम कहानियों के मुकाबिले में, जो विभाजन की विभीषिका पर लिखी गयी, मण्टो की सिर्फ़ एक कहानी 'टोबा टेकसिंह' सब पर भारी पड़ती है।

'टोबा टेकसिंह' कृष्ण की सब रचनाओं पर भारी है ?

हाँ ! लेकिन उसके अलावा 'नंगी आवाज़ें,' 'खोल दो,' 'टिथवाल का कुत्ता,' 'यज़ीद,' 'शहीद साज़' और वह भयानक कहानी 'शरीफ़न'--वे सब यादगार कहानियाँ हैं। ऐसी पुर-असर कहानियाँ बिना उस तकलीफ़ को भोगे हुए नहीं लिखी जा सकतीं। जाँच-पड़ताल और खोज-बीन के बाद दिल पर कोई असर

न करने वाले अमरीकी बेस्ट-सेलर तो लिखे जा सकते हैं, बलवन्त सिंह के उपन्यास 'काले कोस' और मण्टो की उपर्युक्त कहानियों जैसी अमर रचनाएँ नहीं सृजी जा सकती।

अश्क जी, क्या कारण है कि प्रगतिशील ख़ेमे के लोग आपको प्रतिक्रियावादी रचनाकार समझते हैं और व्यक्तिवादी रुझान के लेखक प्रगतिशील ? वैसे निजी तौर पर लगता है कि आपने फ़ैशन के तौर पर दोनों तरह की रचनाएँ लिखी हैं। आप का क्या ख़याल है ?

यह सवाल तो उन्हीं लोगों से करना चाहिए, मैं क्या जवाब दूँ ?

तो भी आप क्या कारण समझते हैं ?

शायद वही, जिसका उल्लेख प्रोफ़ेसर बुदरूस ने मेरे एकांकी 'नया और पुराना' के सन्दर्भ में किया है। मानवीय सम्भावनाओं के सत्य का निःस्सीम क्षेत्र मैं अपने रचनाकार के लिए खुला मानता हूँ और उस सत्य का जो पक्ष मुझे आन्दोलित करता है, उसे कलम की नोक पर रखता हूँ। ज़ाहिर है कि मेरे यहाँ दोनों ख़ेमे के लोगों को अपने पक्ष की रचनाएँ मिल जाती हैं। फिर न सभी प्रगतिशील मुझे प्रतिक्रियावादी मानते हैं, न सभी प्रतिक्रियावादी प्रगतिशील ! मैं गुटों और संस्थाओं से स्वतन्त्र रहा हूँ। और जो व्यक्ति गुटों में शामिल नहीं होता, वही सभी की निन्दा का भाजन बनता है। रही तुम्हारी अपनी धारणा तो बिना किसी आन्तरिक दबाव के कोरे फ़ैशन में लिखना मैं गुनाह मानता हूँ और महज़ कला के लिए मैंने कम ही लिखा है। १६४० के बाद तो बिलकुल ही नहीं।

अमरकान्त ने कहीं लिखा है कि नयी कहानी के निर्माण में अश्क, भैरव और श्रीपत राय--इन तीनों का महत्वपूर्ण योग था। आप इस कथन से कहाँ तक सहमत हैं ?

नयी कहानी के क्षेत्र में ही नहीं, एकांकी के क्षेत्र में भी श्रीपत के योग को मानना चाहिए !

कहानियाँ तो सुना है कि उन्होंने छद्म नाम से लिखी थीं, क्या एकांकी भी लिखे ?

नहीं, श्रीपत का योग सृजनात्मक स्तर पर नहीं है। अकलंक मेहता के नाम से उन्होंने ज़रूर कुछ कहानियाँ लिखीं, लेकिन वे न किसी को याद हैं, न हिन्दी साहित्य पर उनका कोई इम्पैक्ट ही पड़ा। जम जातीं तो शायद वे और भी लिखते। नयी कहानी के सन्दर्भ में उनका सबसे बड़ा योग यही है कि उन्होंने मेरे ज़ोर देने पर 'कहानी' पत्रिका को, जिसमें तब (१६५४ तक) सिर्फ़ 'सरस्वती प्रेस' की पुस्तकों की सूची तथा दूसरी प्रचार-सामग्री रहती थी, कहानी-पत्रिका में परिवर्तित कर भैरव प्रसाद गुप्त को उसका सम्पादक बना दिया। यही नहीं, उन्हें सम्पादन की पूरी छूट दी और सब से बढ़ कर यह कि एक-से-बढ़ कर एक

वार्षिक-विशेषांक निकाले। रही एकांकी के क्षेत्र की बात तो श्रीपत को इस बात का श्रेय प्राप्त है कि 'हंस' का सम्पादन सँभालते ही उन्होंने उसके 'एकांकी विशेषांक,' 'रेखा-चित्र विशेषांक' जैसे महत्वपूर्ण अंक निकाले। 'हंस' के एकांकी विशेषांक जैसा अंक फिर किसी पत्रिका ने नहीं निकाला। 'हंस' और 'कहानी' के इन विशेषांकों का नाम हिन्दी साहित्य के इतिहास में हमेशा लिया जाता रहेगा।

और भैरव... उनका क्या योग है नयी कहानी के निर्माण में... ?

अब भैरव के हज़ार दोष हों और इधर मेरी उनकी हज़ार शत्रुताई भी हो, लेकिन आठ वर्ष तक वे मेरे निकट रहे हैं, मैंने उन्हें 'कहानी' ही में नहीं जमाया, जब श्रीपत से नाराज़ हो कर उन्होंने 'कहानी' को छोड़ना चाहा तो ओमप्रकाश पर ज़ोर दे कर मैंने 'नयी कहानियाँ' शुरू करायी और हालाँकि वे राकेश और रेणु को उसका सम्पादक बनाना चाहते थे (जिसका पता मुझे बाद में चला) मैंने भैरव को 'नयी कहानियाँ' का सम्पादक बनवा दिया और हमेशा के लिए श्रीपत की नाराज़गी मोल ले ली...

वह कैसे ?

जब भैरव ने त्यागपत्र दे दिया और श्रीपत के कान में भनक पड़ी कि वे 'नयी कहानियाँ' में जा रहे हैं तो एक रात उन्होंने फ़ोन किया कि मैं भैरव पर ज़ोर डाल कर उनसे त्यागपत्र वापस लेने को कहूँ, लेकिन मैंने ही तो ओमप्रकाश से उनका कॉण्ट्रेक्ट करा दिया था। मैंने श्रीपत से कहा कि मैं तो दो बार तुम्हारे पास आया था, पर शुक्ल के चक्कर में तुमने मेरी बात नहीं सुनी, अब मैं क्या कर सकता हूँ ? चूँकि भैरव के और मेरे निकट सम्बन्धों का श्रीपत को इल्म था, इसलिए वे लगातार ज़ोर देते रहे, पर मैं उन्हें कैसे बताता कि मैंने ही ओमप्रकाश को उकसा कर 'नयी कहानियाँ' निकलवायी है और भैरव को वहाँ फ़िट कर दिया है।... मैं जानता हूँ कि श्रीपत ने मुझे उसके लिए कभी माफ़ नहीं किया।

आप नयी कहानी के निर्माण में भैरव जी के योगदान...

यूँ तो भैरव कथाकार भी हैं और दो-एक नहीं, उनके लगभग दस कहानी-संग्रह छप चुके हैं, लेकिन 'नयी कहानी' के सन्दर्भ में उनका योगदान भी सृजन के क्षेत्र में नहीं, सम्पादन के क्षेत्र में है। उस तमाम क्रोध के बावजूद, जो आज लगभग दो दशकों के बाद भी मेरे मन में उनके प्रति है, मैं यह स्वीकार करने से इनकार नहीं कर सकता कि स्वयं अच्छे कहानीकार न होते हुए भी वे कहानी-पत्रिका के बहुत अच्छे सम्पादक रहे हैं। 'कहानी' के पाँच वर्षों और 'नयी कहानियाँ' के शुरू के वर्षों में उन्होंने न केवल तमाम प्रसिद्ध पुराने कथाकारों का सहयोग प्राप्त किया, वरन नये-से-नये कथाकारों को खोजा, उन्हें लगातार छापा और प्रतिष्ठित किया। यही नहीं, नयी कहानी को ले कर कई दिलचस्प और उपादेय वाद-विवाद शुरू किये और जब तक वे अपनी इसी रविश पर चले, सफल रहे, बाद के

दो-एक वर्षों में वे एक निहायत छोटे गुट से बँध गये, उनका कठमुल्लापन उभर आया और फिर वे सम्पादन और कहानी--दोनों क्षेत्रों से ऐसे ग़ायब हो गये, जैसे उनका कभी अस्तित्व ही नहीं था।

और आप ? आपकी क्या भूमिका रही ?

मेरी यह भूमिका रही कि सारे नये कथाकार, चाहे वे परिमल गुट के हों या प्रगतिशील गुट के, मेरे यहाँ आते थे, मैं उनकी कहानियाँ सुनता था, राय देता था और उनका रास्ता आसान करता था। फिर उन्हीं दिनों मैंने 'संकेत' नाम से ६०० डिमाई पृष्ठों का एक वृहद संकलन छापा। उनमें दस नये कथाकारों की चुनी हुई कहानियाँ दीं और वे कहानियाँ आज भी उन कथाकारों की उत्कृष्ट कहानियाँ समझी जाती हैं। यह भी सही है कि जिन लोगों को मैंने जमाया, उन्होंने बाद में मुझे परेशान भी किया, लेकिन और नये कथाकार मेरे यहाँ आते रहे और मैं उनकी कहानियाँ सुनता, उन्हें राय देता, उनके बारे में लिखता रहा। मेरी कहानियों के बारे में तो किसी नये कथाकार ने नहीं लिखा, मैं ही लिखता रहा हूँ। मैं तो अब भी नये कथाकारों के विषय में लिखता हूँ। तुम्हारी कहानी अच्छी लगती है तो तुम्हें फ़ोन नहीं करता ?

करते हैं। यह भी सही है कि आप नये कथाकारों को उभारते हैं, लेकिन आप काटते भी हैं, इससे आप इनकार नहीं कर सकते। जिन दिनों नयी कहानी शिखर पर थी, उन दिनों आपने साठोत्तरी पीढ़ी के हम-ऐसे कथाकारों को ख़ूब प्रोत्साहन दिया, क्या उसके पीछे नये कहानीकारों याने राकेश-यादव-कमलेश्वर, आदि की छवि धूमिल करने का आशय नहीं था ?

यह बात नहीं। जैसा कि मैंने यात्री के समालाप में कहा था, मैं नये कथाकारों को दस वर्ष तक प्रोत्साहन देता हूँ, लेकिन एक दशक तक लिखते रहने के बाद, ख्यात होने के बाद, यदि वे रद्दी रचना करते हैं तो मैं ज़रूर आलोचना कर देता हूँ। और मैं समझता हूँ कि पुराने कथाकार के नाते इस बात का तो अधिकार मुझे होना चाहिए। मैंने कभी इस बात की चिन्ता नहीं की कि कथाकार मेरा मित्र है या शत्रु। यदि मुझे अपने अध्ययन-कक्ष में बैठे रचना अच्छी लगी है तो मैंने हमेशा प्रशंसा की है--उस लेखक की भी, जिसकी किसी पहली कहानी की मैंने कटु आलोचना की हो। तुम मेरे सामने बैठे हो। तुम आज के बाद लगातार मेरी निन्दा करते रहो, लेकिन यदि बहुत अच्छा लिखते रहते हो तो मैं तुम्हारी प्रशंसा ही करूँगा। आज़मा कर देख लो। मैंने अपने किसी संस्मरण में तुम्हारे संग्रह 'ग़रीबी हटाओ' की दो प्रमुख कहानियों की आलोचना की और 'चकैया नीम' की कुछ कहानियों की प्रशंसा। एक मित्र ने यह संस्मरण सुनाते हुए हँस कर कहा--"अश्क जी, 'चकैया नीम' की कहानियाँ तो आपको अच्छी लगेंगी ही, क्योंकि वे आपको समर्पित हैं।" यदि यह तर्क सही हो तो राजकमल चौधरी के

उस उपन्यास और डॉक्टर लाल के उस नाटक की भी मुझे प्रशंसा करनी चाहिए थी, जो मुझे समर्पित थे। पर उनकी तो मैंने कड़ी आलोचना की।

किस उपन्यास और किस नाटक की ?

इस वक्त मैं दोनों के नाम भूल गया हूँ। अच्छी रचनाएँ होतीं तो याद रहतीं--विशेषकर उस सूरत में, जब वे मुझे समर्पित भी थीं। 'चकैया नीम' की दो-तीन कहानियाँ मुझे अच्छी लगीं--मैं उन्हें दो-तीन बार पढ़ गया तो मेरे लिए नामुमकिन है कि मैं उनकी प्रशंसा न करूँ। तुम मेरे निन्दक हो या प्रशंसक--इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता।

आप कोई मिसाल दे सकते हैं कि किसी व्यक्ति ने हमेशा आपकी निन्दा या उपेक्षा की हो और आपने प्रशंसा ?

एक मिसाल तो दे ही सकता हूँ। धर्मवीर भारती। गत बीस वर्षों से मैंने 'धर्मयुग' में नहीं लिखा। अपने मित्र सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की तरह उन्होंने भी मेरी उपेक्षा में कोई कसर नहीं उठायी। मुझे संगीत नाटक आकदमी का इनाम मिला और यद्यपि मैं हिन्दी का पहला नाटककार हूँ, जिसे यह पुरस्कार मिला, पर दोनों साप्ताहिकों ने पुरस्कार-विजेताओं के नाम छापते समय मेरा नाम गोल कर दिया। ऐसा ही सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार के समय हुआ। मुझे यह मानने में भी इनकार नहीं कि मैं भी भारती से बेहद नाराज़ हूँ। उसका घर टूटा उसकी कायरता और बेवकूफ़ी से, पर उसने दो बार झूठ का इन्द्रजाल बुन कर मेरी पत्नी को बहका कर मेरा घर तोड़ने की नाकाम कोशिश की। वह दुश्मनी अपनी जगह है। व्यक्तिगत स्तर पर बदला चुकाया भी जा सकता है, लेकिन साहित्य से इस व्यक्तिगत राग-द्वेष का क्या सम्बन्ध है ? मैंने 'अन्धा युग' दो-तीन बार पढ़ा है। मुझे आज भी वह रचना प्रेरणा के किसी सम्पुटित क्षण में लिखी गयी लगती है, जिसके टक्कर की दूसरी रचना हिन्दी में अभी तक तो नहीं है। 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' की मैंने प्रशंसा की ही थी, दूसरी बार पढ़ने पर अच्छी न लगती तो निन्दा भी कर सकता था, पर वह अच्छी लगी। यही स्थिति भारती की चन्द उत्कृष्ट कहानियों के सिलसिले में भी है। हिन्दी के अधिकांश लेखक अपनी व्यक्तिगत शत्रुता प्रतिद्वन्द्वी के साहित्य के बारे में ख़ामोश रह कर अथवा उसकी उत्कृष्ट रचनाओं को नकार कर निकालते हैं, लेकिन उत्कृष्ट रचनाओं की निन्दा करने वाला हमेशा असफल और कुण्ठित होता है, क्योंकि वे समय से अपनी सत्ता मनवा लेती हैं। मैं इस तथ्य को जानता हूँ और ऐसी बेवकूफ़ी नहीं करता। मुझे कोई हज़ार गाली दे, हज़ार मेरे बारे में ख़ामोशी अख़्तियार करे, मुझे रचना अच्छी लगती है तो मै प्रशंसा ही करता हूँ। मेरे पिता ने मुझे यही सिखाया है और लगातार मैंने अपने आपको उसी की ट्रेनिंग दी है...

यह तो...

यह तो अब मेरा स्वभाव बन गया है और मैं चाहूँ भी तो इसे बदल नहीं सकता।

मुझे तो याद है, जब मैंने पहली ही कहानी लिखी थी तो आपका पत्र मिला था।

अब यह देखो कि इस बार दिल्ली से दस-पन्द्रह लेखिकाओं के कहानी-संग्रह लाया हूँ...

लेखिकाओं के ही क्यों ...

इधर कहानी उतनी लम्बी और पेचीदा नहीं रही और बहुत-सी लेखिकाएँ मैदान में आ गयी हैं। मैंने कुछ वर्ष पहले साप्ताहिक में हिन्दी कथा-लेखिकाओं पर एक लम्बा मज़मून लिखा था। इन कहानियों को पढ़ कर मैं देखना चाहता हूँ कि उसमें कितना संशोधन-परिवर्द्धन किया जा सकता है। एकदम नयी लेखिकाएँ कैसा लिखती हैं और उनमें कौन है, जो सर्वाधिक ध्यान खींचती है।

कोई नज़र आयी ?

अभी तक तो जो कथा-संग्रह मैंने पढ़े हैं, उनमें राजी सेठ के कथा-संग्रह 'अन्धे मोड़ से आगे' में मुझे कुछ कहानियाँ बहुत अच्छी लगीं।--'अमूर्त कुछ,' 'अस्तित्व से बड़ा,' 'पुनः वही,' और 'उसका आकाश' कहानियाँ अच्छी लगीं। राजी की शैली में कुछ अजीब-सी प्रौढ़ता और मन के गुह्य स्तरों को आलोकित कर देने की क्षमता है। कुछ ऐसी अनुभूतियाँ भी उनमें चित्रित हैं, जिनका पहले किसी कहानी में साक्षात्कार नहीं हुआ है। एक ही दोष दिखायी दिया। राजी लगता है, अंग्रेज़ी में सोचती है, जिससे उसके वाक्य-विन्यास में अनुवाद की चाशनी मिल जाती है। संग्रह का नाम जिस कहानी से लिया गया है, वह मुझे कमज़ोर लगी, क्योंकि जिस बारीक और बौद्धिक भावना पर कहानी अवलम्बित है, उसे वह साधारण टाइपिस्ट लड़की, जिस पर कहानी लिखी गयी है, वहन नहीं कर सकती।

और किस लेखिका ने आपका ध्यान आकर्षित किया ?

सुनीता जैन की कहानियाँ और कविताएँ पढ़ी हैं। थोड़ी-सी भावुकता उनमें है, लेकिन ताज़गी भी है। फिर दो लेखिकाएँ हैं, मृदुला गर्ग और मंजुल भगत। दोनों बहनें हैं। मैं व्यक्तिगत रूप से दोनों को ज्यादा नहीं जानता। दोनों के उपन्यास और कहानियाँ पढ़ी हैं। मृदुला बहुत मशहूर है, उसका पब्लिक रिलेशन्ज़ विभाग भी लगता है काफ़ी सशक्त है। भाषा भी उसके पास प्रवहमान है, लेकिन वह निहायत फ़ेक लिखती है। रचना मन को नहीं छूती। लगता नहीं कि अनुभूति का स्पर्श कहीं मिला है। मंजुल कम मशहूर है, लेकिन अच्छा लिखती है। अब मैं चाहने पर भी मृदुला की प्रशंसा नहीं कर सकता और अनायास मंजुल की सराहना करता हूँ।

हाँ, मंजुल बहुत अच्छा लिखती है।

यही मैंने भी लिखा है। साहित्य में मैंने कभी कोई गुट नहीं बनाया। स्वतन्त्र और निर्द्वन्द्व अपनी बात कह देता हूँ। यही मुश्किल है।

नयी लेखिकाओं के अलावा पुरानी लेखिका की कोई रचना पढ़ी आपने ?

ममता का कहानी-संग्रह पढ़ा है। उसके यहाँ पहले की अपेक्षा कुछ प्रौढ़ता आयी है और थोड़ा कहानीपन भी। उसका नया उपन्यास 'प्रेम कहानी' तो बहुत ही अच्छा लगा। यूँ मृदुला गर्ग तो नयी नहीं। अभी सोबती का 'ज़िन्दगीनामा' आया है।

आप पढ़ गये ?

मैं तो कृष्णा सोबती का पुराना प्रशंसक हूँ। न पढ़ना कुफ़्र होता। हाँ, मुश्किल ज़रूर हुई, लेकिन धीरे-धीरे पढ़ ही गया।

कहाँ मुश्किल हुई ?

सबसे ज़्यादा भाषा के मामले में। मुझे सोबती की पंजाबी बोली में रची-बसी भाषा बहुत अच्छी लगती थी, लेकिन अति हमेशा बुरी होती है और लगता है 'ज़िन्दगीनामा' में वह अति हो गयी है। बार-बार यही ख़याल आता रहा कि ऐसी भाषा लिखने की बजाय सोबती ने उपन्यास ठेठ गुजराती-पंजाबी में क्यों लिखा?

गुजराती ?

पाकिस्तान का एक शहर और ज़िला है गुजरात, वहाँ की बोली। मुझे सोबती की बहुत-सी कहानियाँ पसन्द हैं। लघु उपन्यासों में 'यारों के यार' को मैं उनकी श्रेष्ठ कृति मानता हूँ। 'मित्रो मरजानी' का अन्त मुझे थोड़ा इम्प्रॉबेबल (असम्भाव्य) लगता है, वरना उस उपन्यास के सारे पात्र कृष्णा ने बड़े ही बोल्ड और सधे कलम से उकेरे हैं। 'सूरजमुखी अँधेरे के' की वस्तु मुझे किसी केस-हिस्ट्री-सी लगी, लेकिन पढ़ने में ज़रा भी कठिनाई नहीं हुई, मगर 'ज़िन्दगीनामा' को पढ़ने में उसकी भाषा सबसे बड़ी बाधा बन गयी। सोबती का उपन्यास न होता तो मैं कुछ पृष्ठों बाद ही छोड़ देता। जाने इस बार उन्हें क्या सूझी कि अपना सारा ज़ोर उन्होंने ऐसी भाषा गढ़ने में लगा दिया कि भाषा ही कृत्रिम हो गयी। मैं पंजाबी हूँ। तुम पंजाबी हो। क्या तुमसे उपन्यास पढ़ा गया ?

नहीं। मैंने अपनी राय दी तो प्रकाशक महोदया नाराज़ हो गयीं। लगा, जैसे कृष्णा सोबती ने नहीं, उन्हीं ने वह भाषा सृजी हो।

ख़ैर, मैं तो जालन्धर का हूँ और उपन्यास में गुजरात की पंजाबी है; लेकिन मेरी पत्नी तो ख़ास गुजरात में पली-पढ़ी है। बहुत-से शब्दों के अर्थ उसकी समझ में नहीं आये। मैं तो उपन्यास पढ़ ही गया। उससे नहीं चला।

लेकिन भाषा के अलावा...

कुछ प्रसंग तो सोबती ने लाजवाब लिखे हैं। ...माँ बीबी का अपने देवर की बीमारी में उसे देखने के लिए जाने का प्रसंग, शाहनी का बाबा फ़रीद के यहाँ जाने और रास्ते में व्यम कराने (बच्चा जनाने) का प्रसंग, गाँव में हसीन नर्तकियों के आने का प्रसंग, ज़्यादा खा लेने से थानेदार के पेट में गड़बड़ होने का प्रसंग,

आदि आदि। कम-से-कम उतने ही उम्मीद तो उनसे थी ही, लेकिन मुझे लगता है उपन्यास की बिनावट में कहीं दोष है। सारा उपन्यास पढ़ने के बाद जो दृश्य उभरता है, वह गाँव की चौपाल का है, जहाँ मंजियों[१] पर बैठे लोग छोटी और बड़ी हँसियाँ हँसते हैं और दुनिया-जहान की सूचनाएँ देते-लेते और उस पर रायज़नी करते हैं। उनकी बातचीत के माध्यम से हम बहुत-सी जानने योग्य बातें जानते हैं। मैं समझता हूँ कि शुरू के ३५ पृष्ठों पर फैली हुई प्रति पंक्ति एक शब्द की लम्बी उबाऊ कविता (जिसके अन्त तक पहुँचते हुए पहले शब्द ज़ेहन से ग़ायब हो जाते हैं) और बड़े लाला द्वारा कहानी शुरू करने के बदले उपन्यास चौपाल के दृश्य ही से शुरू होना चाहिए था। फिर न उस दृश्य का उपन्यास में इतनी बार आना अखरता, न उससे ख़त्म होना और उसमें एक अन्विति भी होती। अब प्रकाशक के ज़ोर से लोग चाहे कितने कसीदे लिख दें और उपन्यास चाहे साहित्य अकादेमी का पुरस्कार ले जाय या जॉयस के 'यूलिसीज़' की तरह क्लासिक हो जाय, पढ़ा ज़्यादा नहीं जायेगा, उन कुछ मार्मिक प्रसंगों के बावजूद, जो उपन्यास में चित्रित हैं।

साहित्य अकादेमी का पुरस्कार तो उसको मिलने जा रहा है।

उसकी दाद प्रकाशक को है, लेखक को नहीं। इसी एक पुस्तक को नहीं, पहले भी उनके प्रकाशक की सात-आठ पुस्तकों को साहित्य एकादमी का पुरस्कार मिला है। सोबती ने 'हम हशमत' में प्रकाशक को प्रशंसा में चुहचुहाता हुआ संस्मरण न लिखा होता और पुस्तक इतनी शानदार छप जाती और इसे इनाम दिलाने के लिए प्रकाशक अपने तमाम साधन लगा देता तो हम मान लेते। सोबती और राकेश में कुछ गुण समान हैं। राकेश की तरह सोबती भी अव्वल दर्जे की स्नॉब हैं। लेकिन राकेश ही की तरह वे इतनी कमज़ोर होंगी, यह मैं नहीं जानता था। राकेश को भी मैंने तमाम स्नॉबरी के बावजूद ऐसे आसान रास्ते चुनते देखा है और अफ़सोस हुआ है। सोबती का संस्मरण पढ़ कर भी मुझे अफ़सोस हुआ था। और उसके नतीजे के तौर पर उन्हें जो मिला है, उसे देख कर और भी ! उपन्यास इतना शानदार छप जाता, उसका इतना प्रचार-प्रसार प्रकाशक करा देता तो कृतज्ञतावश वैसा संस्मरण यदि लिखा जाता, तब भी मैं उसे उचित मानता, लेकिन अब तो मैं समझता हूँ, फ़िलहाल लेखक की अपेक्षा उस उपन्यास को पढ़ जाने वाले ही पुरस्कार के ज़्यादा हक़दार हैं।

अश्क जी, इसमें कहीं आपकी कुण्ठा तो नहीं बोल रही ? आपने इतना लिखा और आपका उपन्यास तो देश-विदेश में इतना प्रसिद्ध हुआ, लेकिन साहित्य अकादमी ने आपको पुरस्कार के योग्य नहीं समझा।

इसकी शर्म हिन्दी के बिके हुए उन अध्यापक-आलोचकों या लेखकों को होनी

---

१. चारपाइयों

चाहिए, जिन्हें लगातार एक प्रकाशक की किताबें ही पुरस्कार के योग्य लगीं अथवा साहित्य अकादमी के अधिकारियों को ! मुझे कुण्ठा क्यों हो या फिर लेखक प्रयास करे और न पाये तो उसे कुण्ठा हो, पर जो न प्रयास करे और न पाये, उसे क्यों हो ? 'साहित्य अकादेमी' का पुरस्कार तो एक नगण्य-सा पुरस्कार है, मैं नोबल पुरसकार की मिसाल दे चुका हूँ, जो बूनिन को मिला और तॉलस्तॉय, दॉस्तोवस्की, चेख़व और तुर्गनेव और गोर्की में से किसी को नहीं मिला। फिर यदि हिन्दी के एक प्रकाशक की पुस्तकों को अधिकांश बार अकादेमी के पुरस्कार मिलने की तरह कुछ वर्षों से नोबल पुरस्कार भी अमरीकी गुट के अधिकांश लोगों को मिल रहा है तो अन्य देशों के लेखकों को क्यों कुण्ठा हो ? पुरस्कार कृति के प्रचार-प्रसार और बिक्री में तो सहायता दे सकते हैं, उसे उच्चकोटि का नहीं बना सकते।

'ज़िन्दगीनामा' में शाह के चरित्र के बारे में आपका क्या ख़याल है ?

सोबती ने एक सूदख़ोर शोषक को चूँकि पूरी हमदर्दी दी है, इसलिए उसका कोई भी कुकृत्य बुरा नहीं लगता। हालाँकि इन्हीं सूदख़ोरों से पंजाब के किसानों की रक्षा के लिए सर छोटू राम ने साहूकारा बिल पास करवाया था। लेकिन उपन्यास में साहूकार लाला ही नहीं, क्रूर ज़ालिम और भ्रष्ट थानेदार भी रोमाण्टिक हीरो ऐसे मालूम होते हैं।... और-तो-और एक और प्रसंग में एक भाई दूसरे का सिर गँड़ासे से काट देता है। शाह सब कुछ ऐसे शान्त करा देता है जैसे कत्ल नहीं हुआ था, कोई पटाख़ा छूटा था। यूँ उपन्यास में कत्ल भी होता है, अग़वा भी और सिपाहियों का ज़ुल्म भी, लेकिन कहीं क्रोध, विक्षोभ, प्रतिहिंसा, प्रतिशोध ऐसे मानवीय जज़्बों की तड़प नहीं, कुछ अजीब-सी गुडी-गुडी रोमानियत सारे उपन्यास पर छायी है।... लेकिन उपन्यास मैंने एक ही बार--वह भी रुक-रुक कर पढ़ा है और बिना किसी रचना को दोबारा पढ़े, मैं यकीनी कमेंट करना ग़लत समझता हूँ। अब के भाषा की बाधा को नज़रअन्दाज़ करके सिर्फ़ वस्तु और शिल्प के ख़याल से एक ही सिटिंग में पढ़ूँगा (सोबती की रचना दो बार पढ़े जाने की अपेक्षा तो रखती ही है) तभी मैं अपनी बात कहूँगा।

निर्मल वर्मा का 'एक चिथड़ा सुख' आपने देखा ?

देखा। पुस्तक बहुत सुन्दर छपी हैं। कवर तो बहुत आकर्षक है। शायद रामकुमार का है।

पढ़ा भी ?

हाँ, पढ़ा भी।

कैसा लगा ?

पढ़ कर ख़ासी तकलीफ़ हुई।

इस तकलीफ़ से मैं गुज़र चुका हूँ।

मुझे लगा कि जिस दुख की पड़ताल निर्मल वर्मा अपने उपन्यास में कर रहे हैं, वह और कहीं नहीं, इसी उपन्यास को पढ़ना ही है।

और सुख--निर्मल ने तो सुख को भी जानना-जनाना चाहा है।

ख़ालिस सुख तो बलवन्त सिंह के उपन्यास 'चक पीराँ का जस्सा' को पढ़ना है।

वह बेहद दिलचस्प है। पंजाब की ज़िन्दगी और ज़िन्दादिली पर ऐसी कम ही रचनाएँ आयी होंगी। मगर बलवन्त सिंह की दृष्टि साहित्यिक नहीं, व्यावसायिक है। आपको ऐसा नहीं लगता ?

बलवन्तसिंह के उपन्यास की या उसकी दृष्टि की बात बाद में करूँगा। पहले 'एक चिथड़ा सुख' की बारे में अपना इम्प्रेशन दे दूँ। जैसे कोई आदमी बरबस एक ऐसे अँधेरे तहखाने में बन्द कर दिया जाय, जहाँ न कोई खिड़की हो, न रोशनदान, न स्वच्छ हवा हो, न धूप तो जैसी घुटन होगी, वैसी ही घुटन निर्मल का उपन्यास पढ़ते हुए हुई। मैं एक बार शिमले की रियासत क्यार कोटी के एक ऐसे ही ठण्डे, सीले, अँधेरे, बन्द पहाड़ी भूगृह में रात भर के लिए कैद कर दिया गया था। निर्मल का उपन्यास पढ़ते हुए मुझे उसी रात की याद हो आयी। अफ़सोस होता है जब मॉडर्न कहाने वाला भारतीय लेखक एलियेनेशन और अपने-अपने अजनबीपन के सारे एहसास बाहर से ले कर एक ऐसा कृत्रिम उपन्यास गढ़ता है, जिसमें कोई भी पात्र यथार्थ नहीं लगता। शिल्प की सारी बिनावट और बुनावट के बावजूद कुल मिला कर एहसास सिर्फ़ बनावट का रह जाता है। यूँ उपन्यास में मौसमों का भी ज़िक्र है और ऐसे वाक्य हर छठे पृष्ठ पर आ जाते हैं... 'वह शुरू फ़रवरी की शाम थी'... या ... 'वे मार्च के दिन थे और हवा दिन-रात चलती थी' ... या .... 'वह साफ़ दोपहर थी और उन दिनों दिल्ली का आकाश धुन्ध से निकल कर नीले काँच का-सा चमकता था'... या ...'वे अप्रैल के दिन थे और ठण्ड एक याद की तरह हवा में रहती थी'... और उसमें नयी दिल्ली की सड़कों और कोठियों और बँगलों और आकाश का ज़िक्र है, बिट्टी की बरसाती के या किचन के या नित्ती भाई के प्लाज़ा वाले फ़्लैट के ब्योरे हैं, लेकिन कहीं कुछ असली नहीं लगता। न बिट्टी की बरसाती, न छत, न दिल्ली की सड़कें, न नित्ती भाई का माल रोड वाला मकान, न प्लाज़ा के पीछे गली का फ़्लैट, न डेरी का बँगला और न इन सब में विचरने वाले लोग--कुछ ऐसा रहस्यमय, कृत्रिम आवरण निर्मल ने एक निहायत ही बनी हुई असहज भाषा के माध्यम से उस सबको पहना दिया है। फिर कथानक--वह मन को लुभाने वाला लैला-मजनूँ, शीरीं-फ़रहाद, सोहनी-महीवाल और पारो-देवदास के प्रेम वाला (जिसे गुलज़ार अब तीसरी बार फ़िल्माने जा रहे हैं) आदिम लटका है। बिट्टी अपनी चाची को कैंसर से मरते देखती है और सोचती है कि यदि मौत

में इतनी तकलीफ़ है तो वह कुछ और तरह जियेगी और वह नयी दिल्ली की एक बरसाती में रहती है, नाटक में पार्ट लेती है, और नाटक के डायरेक्टर डेरी से प्यार करती है। डेरी धनी आदमी है। उसका बँगला है। मगर वह काम क्या करता है, हम नहीं जानते। वह स्ट्रिंडबर्ग का कोई नाटक करता है। उपन्यासकार सिर्फ़ इतना पता देता है कि डेरी कभी झोंक में बिहार के लोगों का दुख हरने गये थे। वहाँ उन्होंने किसी को मार कर उसका मरना देखा था या वे कहीं पिस्तौल हाथ में लिये पुलिस से बचते भागते फिरे। उपन्यास में यही एक पंक्ति उनके बिहार-गमन के सिलसिले में दे कर यह बता दिया गया है कि वे बिलकुल बदल गये हैं। शायद बहुत दुख देख आये हैं और पुराने डेरी नहीं रहे। बिट्टी से इश्क करते हैं; स्ट्रिंडबर्ग का कोई नाटक (कौन-सा नाटक वह भी रहस्य में है) करने जा रहे हैं। वे बिट्टी को अपनी नहीं बना पाते, क्योंकि वे बदल गये हैं। एक दूसरी युवती इरा है, जो लन्दन में रहती थी और वहाँ स्थापत्य की शिक्षा लेने को गये हुए नित्ती भाई से प्यार करने लगी। नित्ती भाई भारत वापस आ गये--अपने बीवी-बच्चों के पास--वह भी उनके पीछे आ गयी। वह भी नाटक करती है और नित्ती भाई से प्यार करती है और चाहती है कि वे घर छोड़ कर उसे अपना लें, पर नित्ती भाई चेख़व के 'सी-गल' के प्रेमी हैं। वे 'सी-गल' ही स्टेज करना चाहते थे और उसके सेट भी उन्होंने डिज़ाइन कर रखे थे और अन्ततः जब इरा की चिट्ठी उन्हें मिलती है कि वह वापस जा रही है, वे सी-गल के टेपलीव की तरह आत्महत्या कर लेते हैं। कनपटी पर पिस्तौल रख कर नहीं, बड़े ही निर्मलियन रूमानी ढंग से--टब में बैठ कर, नल का पानी छोड़ कर वे उस्तरे से अपना गला काट लेते हैं और लहू-सना पानी सीढ़ियों में बहता रहता है।--फ़र्क यही है कि 'सी गल' का टेपलीव नीना से प्यार करता था। जाने उसके पीछे कहाँ-कहाँ मारा-मारा नहीं फिरा। पर जब उसे पता चला कि नीना अब भी उसी बेवफ़ा उपन्यासकार ट्रिगोरन से प्यार करती है और सिर्फ़ उसकी झलक देखने चली आयी है तो वह अपने सब मसौदे फाड़ देता है और पिस्तौल कनपटी पर रख कर घोड़ा दबा देता है। यहाँ इरा नित्ती भाई से प्यार करती है। वह चाहती है कि वे घेरे से बाहर निकल आयें और उसे अपना लें, वरना वह वापस इंग्लिस्तान जायेगी और नित्ती भाई साहस नहीं बटोर पाते, उसे छोड़ना भी नहीं चाहते और गला रेत लेते हैं...

मगर अश्क जी, हिन्दुस्तान में क्या थियेटर में इतना पैसा है कि ये लोग आराम से चाँदनी में छत पर बैठे दारू की चुस्कियाँ लेते रहते हैं ? इन पात्रों के जीवन के किसी संघर्ष का भी पता नहीं चलता। आख़िर इन्हें कौन 'फ़ाइनैन्स' कर रहा है ?

यह तो निर्मल वर्मा ही बता सकते हैं। हमारे कल्चर को तबाह करने के लिए कई तरह से बाहरी शक्तियाँ काम कर रही हैं, उन्हीं में से कोई उन्हें भी फ़ाइनेन्स

करती होगी। यह भी हो सकता है कि उनमें से अधिकांश धनी हों, इश्क के लिए नाटक का बहाना बनाये रहते हों। बहरहाल, हमें जीवन के यथार्थ से नहीं, उपन्यास में वर्णित यथार्थ से ग़रज़ है। मज़े की बात यह है कि नित्ती भाई की आत्महत्या का असर किसी पर नहीं होता। लोग उसी घेरे में बन्द फिर स्ट्रिंडबर्ग करने लगते हैं। असर होता है उस लड़के पर--कहानी के नेरेटर--मुन्नू पर--वह प्रीमियर की शाम इलाहाबाद का टिकट कटा लेता है और गाड़ी पर बैठने के पहले परिचित सड़कों पर घूमता है कि तभी साढ़े छै का गजर बजता है--वह बीच सड़क रुक जाता है और बिट्टी और इरा और डेरी के लिए प्रार्थना करने लगता है और स्ट्रिंडबर्ग के लिए भी, जो पागलख़ाने में मरे थे और नित्ती भाई के लिए भी और डेरी की बहन उस पागल लड़की के लिए भी, उन सबके लिए, जो अपनी कटी हुई अकेली ज़िन्दगियाँ जीने को अभिशप्त हैं। सिर्फ़ वही नित्ती भाई की तरह घेरा तोड़ कर चल देता है। मरता नहीं। इलाहाबाद का टिकट कटा लेता है और सोचता है--हॉल में अँधेरा हुआ होगा, पर्दा उठा होगा, बिट्टी स्टेज पर आयी होगी, उसकी सीट को देखा होगा और वह ख़ाली पड़ी होगी।...

लेकिन वह लड़का उपन्यास का सबसे झूठा पात्र है, क्योंकि उसका उतना भी असली अस्तित्व नहीं, जितना बिट्टी या डेरी या नित्ती भाई का। उसकी माँ कैंसर से मर गयी है। उन दिनों बिट्टी ने चाची की बड़ी सेवा की। मुन्नू और बिट्टी में थोड़ा नैकट्य हो गया। वे दोनों एक शाम घूमे और कार्नीवाल के एक ख़ेमे में बौने द्वारा सुख की व्याख्या सुनी। फिर बिट्टी चली गयी। मुन्नू को बुख़ार रहने लगा। स्कूल उसने जाना छोड़ दिया। तभी बिट्टी का ख़त उसकी माँ लायी, जिसमें लिखा था कि मुन्नू स्कूल नहीं जाता और उसे बुख़ार रहता है तो वह कहीं भी रह सकता है, उसे दिल्ली भेज दिया जाय और मुन्नू के बाबू बे-माँ के उस लड़के के हाथ में कुछ रुपये दे देते हैं और उसे अपनी कज़िन के पास भेज देते हैं। चलते वक्त वे उसे समझाते हैं कि वह बिट्टी के पास जा रहा है, वह अपनी ज़िन्दगी जीती है, उसमें दख़ल न दे। मुन्नू बिट्टी की बरसाती में आ जाता है। उसे बुख़ार आता है। लेकिन वह स्वयं कोई दवा नहीं लेता, न बिट्टी ही उसे कोई दवा देती है। बुख़ार भी उसे लेखक की सुविधा के लिए आता है और बन्द हो जाता है। यूँ उसका अस्तित्व बिट्टी की ज़िन्दगी में छठी उँगली ऐसा है, लेकिन कहानी उसी के द्वारा कही जाती है, वही कभी बुख़ार में, कभी अनिद्रा में, कभी सोते-जागते, सब कुछ देखता है, जो वहाँ होता है और उसे बयान करता है।

उपन्यास में कुछ भी सहज नहीं होता। बिट्टी की चिट्ठी पर यदि उसके बाबू कहते--नहीं, बच्चे को बुख़ार आता है, जब तक यह ठीक नहीं होता, इसे मैं कहीं नहीं भेज सकता तो फिर यह कहानी कौन सुनाता। डेरी बिट्टी को

अपना लेते तो फिर स्ट्रिंडबर्ग कौन करता और यदि नित्ती भाई इरा की बात मान लेते तो बाथरूम की उस रूमानी आत्महत्या का विशद चित्रण कैसे होता ? मुन्नू दवा खाता, उसे आराम आ जाता तो वह घर वापस चला जाता। लेकिन अगर कुछ भी सहज हो जाता तो लेखक दुख की पड़ताल कैसे करता ? वह ऐसा कर सके सो उसने सभी ऐसे पात्र चुने हैं, जिन्हें ज़िन्दगी के संघर्ष से कुछ लेना नहीं। बिट्टी के घर से रुपया आता है, डेरी बँगले वाले अमीर आदमी हैं, नित्ती भाई भी धनी हैं और इरा भी... इनमें कोई वास्तविक संघर्ष नहीं करता--संघर्ष, जिसमें ज़िन्दगी के असली दुख और सुख का राज़ छिपा है। उपन्यास के पात्र एक नितान्त झूठी, ऊपरी ज़िन्दगी जीते हैं और उसी के द्वारा जिस दुख को पाते हैं, वह दुख नहीं और सुख के जिन क्षणों को जीते हैं, वह सुख नहीं है। मुझे यदि एक शब्द के लिए क्षमा करो और मान लो कि इलाहाबाद की बोल-चाल की भाषा का आम शब्द है तो कहना चाहूँगा कि एक अपरम्पार चूतियापा इस उपन्यास में पहले पृष्ठ से अन्तिम पृष्ठ तक फैला हुआ है।

पर अश्क जी, कुछ लेखक तो निर्मल वर्मा से बुरी तरह आक्रान्त हैं।

जानता हूँ, लेकिन उन करोड़ों हिन्दी भाषा-भाषियों में कितने लोग हैं, जिन्होंने स्ट्रिंडबर्ग का नाम भी सुना है या जिन्होंने चेख़व का नाटक 'सी गल' पढ़ा है। कहानी घातक प्रेम की गढ़ी हुई फ़ार्मूला कहानी है। जैसे लोग राकेश के 'आषाढ़ का एक दिन' पर फ़िदा थे, इस पर भी होंगे। मज़े की बात यह है कि स्ट्रिंडबर्ग या चेख़व में कहीं कुछ नकली या झूठा नहीं लगता। मैं पाँच-छै बार 'सी गल' पढ़ चुका हूँ। उसमें कोई भी पात्र झूठा या नकली नहीं लगता--न मादाम अर्कादिन, न सोरिन, न डॉक्टर, न ट्रिगोरिन, न नीना, न टेपलीव।

प्रेम वहाँ भी है, वैसा ही आदिम और घातक--लेकिन मादाम अर्कादिन और ट्रिगोरिन और नीना एकदम हकीकी, जीवन्त पात्र लगते हैं।--शायद इसीलिए कि चेख़व ने उन्हें ज़िन्दगी से लिया। निर्मल ने कल्पना से गढ़ा--कामू के सूत्र को व्याख्यायित करने के लिए और झूठे दुख पर दार्शनिकता का घटाटोप चढ़ाने के लिए ! मैं निर्मल से कहना चाहता हूँ कि मित्र, सुख और दुख ज़िन्दगी के संघर्ष ही में हैं, उससे पलायन करके एक झूठी ज़िन्दगी जी कर सुख और दुख का जो एहसास होगा, वह भी नकली होगा।

मुझे भी उपन्यास से यही शिकायत है। लेकिन जिन शब्दों में आपने उपन्यास का विश्लेषण किया है और जैसे वह आपको याद है...

याद है, क्योंकि दुख याद रहता है और कभी नहीं भूलता। आज पैंतालीस वर्ष बीत जाने के बावजूद मुझे उस पहाड़ी भूगृह में काटे गये एक रात के नरक की नन्हीं-से-नन्हीं तफ़सील याद है।

और सुख, मुझे लगता है निर्मल के यहाँ सुख का दार्शनिकीकरण है तो बलवन्त सिंह के यहाँ बाज़ारीकरण। आप सहमत नहीं होंगे ?

सुख बयान करने की चीज़ नहीं, महसूस करने की चीज़ है और मेरी राय है कि तुम बलवन्त का उपन्यास 'चक पीराँ का जस्सा' पढ़ो और सुख के उस अहसास की अनुभूति पाओ।

वैसा सुख तो व्यावसायिक जासूसी उपन्यास पढ़ने में भी होता है।

मैं समझता हूँ, नहीं होता, क्योंकि मैं नहीं पाता। बलवन्त सिंह का उपन्यास पढ़ गया हूँ और मुझे सुख मिला है तो मैं मानता हूँ कि वह जासूसी उपन्यासों जैसा नहीं है। रही उसकी व्यावसायिकता के बारे में तुम्हारी शिकायत तो मैं उससे सहमत नहीं। जैसा कि मैंने शुरू में कहा, हर लेखक के दिमाग़ पर बचपन और जवानी के गहरे इम्प्रेशन होते हैं, जो निजी अनुभूतियों के अलावा बुज़ुर्गों से सुने गये पारिवारिक किस्सों-कहानियों-घटनाओं से बने होते हैं, और हर बड़ा लेखक उन्हीं पर ज़िन्दगी भर लिखता है। बलवन्त सिंह ने मध्य पंजाब के गाँवों की खुली फ़िज़ा में मुँह-ज़ोर जाटों की दबंग ज़िन्दगी देखी है, डाकुओं और सरफ़रोश जाटों की लड़ाइयों के किस्से सुने हैं। वह उनसे आक्रान्त है और बार-बार उसके उपन्यासों में वह जीवन चित्रित होता है। उसके उपन्यासों--या कहूँ कि इस उपन्यास की सामाजिक उपादेयता भले ही ज़्यादा न हो, लेकिन बलवन्त के कलाकार की शक्ति का परिचय इससे निश्चय ही मिलता है। चक पीराँ के जस्से और उसके चाचा के किरदार को भूल पाना असम्भव है।

बलवन्त सिंह के बारे में कभी मैंने 'हिन्दी कहानी : एक अन्तरंग परिचय' में लिखा था कि बलवन्त सिंह के यहाँ मानव स्थिति के प्रति न कृष्ण चन्द्र जैसा बौद्धिक आक्रोश है, न मण्टो जैसा अन्तरतम को झकझोरता विक्षोभ, न बेदी जैसा कम्पैशन (करुणा), मानव नियति के विचार से उसके होंटों पर जैसे एक मुस्कान आती है और वह मुस्कान होंटों पर लिये हुए वे किसी उत्कृष्ट कलाकार की तरह मानव को अपनी कहानियों में उकेरते चले जाते हैं। बलवन्त सिंह के उत्कृष्ट उपन्यासों--'रात चोर और चाँद,' 'काले कोस' और 'चक पीराँ का जस्सा' ही नहीं, उनकी उत्कृष्ट कहानियों-'जग्गा,' 'समझौता,' 'पंजाब का अलबेला,' 'ग्रन्थी,' 'तीन बातें,' 'वे क्षण,' 'पहला पत्थर,' 'स्वाभिमान,' 'सूरमा सिंह,' 'देवता का जन्म' और 'काली तित्तरी' आदि को पढ़ना (और मैं उनकी कहानियाँ कई बार पढ़ चुका हूँ) अपने में कुछ अजीब सुख देता है। बलवन्त सिंह न सुधारक है, न विचारक, न चिन्तक, वह तो बस कलाकार है। अपना चाक घुमाये जाता है और खुले पंजाबी देहात के ग्रन्थिविहीन खुले इंसान के जीते-जागते बुत उतरते चले जाते हैं। यदि समाज से संलग्नता, या सायास प्रगतिशीलता अथवा झूठी बौद्धिकता, समय और इतिहास के साथ चलने का आग्रह वगैरा की इतर माँग

साहित्य से न की जाय और पाठक उस ख़ित्ते के (जिसे पंजाब का देहात कहते हैं) खुले, दबंग, इंसानों को, उनकी स्थिति और नियति को जानना चाहे तो बलवन्त सिंह से बेहतर कथाकार इस देश में दूसरा नहीं है। उस दृष्टि से वह जीनियस है और जीनियसों का-सा थोड़ा-सा असन्तुलन भी उसके यहाँ है। वह एक ही कलम से रद्दी कहानियाँ भी लिख देता है और उत्कृष्ट भी। मैं उसकी रद्दी कहानियों को नज़रन्दाज़ कर देता हूँ और उत्कृष्ट को बार-बार पढ़ता हूँ।

बलवन्त सिंह की रचनाओं के बारे में आपकी पसन्द जान कर मुझ पर आपके साहित्य की व्यक्तिवादी धारा का राज़ खुला। आप यूँ ही तो ऐसी रचनाएँ पसन्द नहीं करते।

पसन्द तो मैं हर तरह की रचनाएँ करता हूँ, यदि वे मेरी दृष्टि में उत्कृष्ट हों। मैंने कहीं लिखा या कहा था कि यदि कहानी-लेखन का कोई स्कूल हो तो मैं मण्टो की कहानी 'बू' को उसके कोर्स में रख दूँ। क्योंकि एक ऐब्स्ट्रैक्ट थीम को मण्टो ने जैसे निर्दोष ढंग से उस तथाकथित अश्लील कहानी में रखा है और अपनी बात सटीक ढंग से कही है, मैं उसकी दाद दिये बिना नहीं रह सकता। यद्यपि मैं जानता हूँ कि मैं वैसी कहानी, चाह कर भी, नहीं लिख सकता।

अक्षमता के कारण।

नहीं, रुचि के कारण। मैं महज़ सुन्दर की प्रशंसा कर सकता हूँ, लेकिन स्वयं मेरे लिए शिव और उससे भी बढ़ कर सत्य श्रेयस्कर है और मैं अपनी रचनाओं में उनका दामन नहीं छोड़ना चाहता। लेकिन कभी कोई सहज सुन्दर रचना सामने आती है और अच्छी लगती है, तो दाद दिये बिना भी नहीं रहा जा सकता। इन रचनाओं की प्रशंसा ताजमहल की प्रशंसा करने के बराबर है, जो महज़ सुन्दर है और जिसकी सामाजिक उपादेयता किसी स्कूल या हस्पताल के मुकाबिले में कहीं कम है। स्कूल या हस्पताल बनाने वाले भले ही ताज न बनायें, पर वे उसकी प्रशंसा तो कर ही सकते हैं। उसी तरह मैं भी मण्टो या बलवन्त सिंह की रचनाओं की प्रशंसा करता हूँ, क्योंकि अपने से इतर रचनाओं को सराहने की शिक्षा मुझे अपने पिता से मिली है।

लेकिन अश्क जी, निर्मल वर्मा के सन्दर्भ में आपको बलवन्त सिंह की याद क्यों आयी। क्या कोई दूसरा ऐसा लेखक हिन्दी में नहीं है, जिसे पढ़ना आपको सुख का पर्याय लगता हो ? शायद इसलिए कि निर्मल कलावादी हैं।

अज्ञेय की कविता और उपन्यास 'नदी के द्वीप' जो बात कहते हैं, वही 'एक चिथड़ा सुख' ! एक नकली कलावादी का उपन्यास पढ़ते हुए एक असली कलावादी की याद आ जाना स्वाभाविक है।

एक मित्र कह रहे थे कि निर्मल वर्मा का यह उपन्यास आन्द्रे जीद के 'स्ट्रेट इज़ द गेट' की याद दिलाता है। प्रेम का कुछ वैसा ही चित्रण...

आन्द्रे जीद मेरे प्रिय कलाकार नहीं रहे...

उस उपन्यास पर तो उन्हें नोबल पुरस्कार मिल चुका है।

नोबल पुरस्कार तो मैं पहले भी दो बार कह चुका हूँ, बूनिन को भी मिला था और टॉलस्तॉय, गोर्की, दॉस्तोवस्की, चेख़व और तुर्गनेव को नहीं मिला था।लेकिन बूनिन को तो कोई नहीं जानता, जबकि रूस के वे महान उपन्यासकार आज अमर हो गये हैं। पुरस्कार वग़ैरह कम ही मेरिट पर मिला करते हैं।

पुरस्कार तो आपको भी मिले हैं।

यारों ने दिला दिये। वरना आधी सदी लिखते हुए बीत गयी। दुनिया भर में मेरे साहित्य की चर्चा होने लगी और साहित्य अकादमी का टुच्चा पुरस्कार ही मुझे न मिला।

मिल जायेगा अश्क जी, क्यों घबराते हैं।

हमारा कोई चाहने वाला आयेगा तो हमें भी दिला देगा। पर वह मेरिट पर नहीं मिलेगा। पुरस्कार केवल मेरिट पर मिलते तो शोलोख़ोव को नोबल पुरस्कार के लिए २५ वर्ष तक प्रतीक्षा न करनी पड़ती। नोबल पुरस्कार तो हिन्दी में अज्ञेय ही ले जा सकते हैं, पर उससे वे प्रेमचन्द से बड़े तो नहीं बन जायेंगे।

आपका यह रिमार्क तो अज्ञेय को सरासर अपना अपमान लग सकता है, क्योंकि वे तो प्रेमचन्द को कोई महत्व ही नहीं देते।

आज ही नहीं, अज्ञेय और उनके हवारियों ने प्रेमचन्द को कभी कोई महत्व नहीं दिया। इस पर भी, जैसा कि मैंने कहा, प्रेमचन्द शताब्दी में वे समारोहों और गोष्ठियों की अध्यक्षता और उद्‌घाटन करते, मुँह चियारे फ़ोटो खिंचवाते घूम रहे हैं। इस प्रयास में वे लोग कितने दयनीय लग रहे हैं, इसका भी उन्हें एहसास नहीं। अब प्रेमचन्द तो इस विशाल देश के जन-जन तक पहुँच गये। उनकी शताब्दी एक वर्ष नहीं, दो वर्षों से मनायी जा रही है। सरकारी और अर्द्ध सरकारी पैसा बँट रहा है। तब ये लोग भी उस बहती गंगा में हाथ धो रहे हैं। स्वयं खा-पी और दोस्तों को खिला-पिला रहे हैं। ऊपर से प्रेमचन्द के बहाने अपनी महत्ता भी जता रहे हैं। प्रेमचन्द के लिए वैसा उपेक्षा का भाव मन में रखने के कारण यह सब करने में इन्हें शर्म आनी चाहिए थी। शर्म इनको मगर नहीं आती।

पिछली फ़रवरी में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के तत्वावधान में 'हिन्दुस्तानी अकादेमी' में जो प्रेमचन्द शताब्दी समारोह मनाया गया, उसका उद्‌घाटन करते हुए अज्ञेय ने बड़ी सूक्ष्मता से प्रेमचन्द को साधारण करुणा का लेखक सिद्ध करते हुए कुछ ऐसी बात कही कि हर लेखक के मन में अपने से बड़े लेखक को काटने की इच्छा होती है, पर प्रेमचन्द के सन्दर्भ में उनके मन में कभी वैसी इच्छा नहीं हुई।

अज्ञेय ने यह कह कर स्वयं ही अपने आपको प्रेमचन्द से बड़ा मान लिया। ख़ैर,

इसमें कोई बुराई नहीं, राजेन्द्र यादव तक अपने आपको प्रेमचन्द से बड़ा मानते हैं, लेकिन अज्ञेय से कोई पूछे कि अपने व्यस्त जीवन से वक्त निकाल आपने बड़े मनोयोग से प्रेमचन्द को बारीकी से काटते हुए निबन्ध लिखा। दिल्ली से इलाहाबाद की यात्रा का कष्ट उठाया, समारोह के उद्घाटन में उसे पढ़ा और अभी आप कहते हैं कि प्रेमचन्द को काटने की इच्छा ही आपके मन में कभी पैदा नहीं हुई। इसी को कहते हैं--

इस सादगी पे कौन न मर जाय ऐ ख़ुदा
लड़ते हैं और हाथ में तलवार भी नहीं

□ □

अश्क जी, इस इण्टरव्यू का उद्देश्य आपको और आपके साहित्य को जानना था और बहस जाने कहाँ से कहाँ चली गयी।

दूसरों के बारे में किसी आदमी के विचार उसको जानने में भी मदद ही देते हैं।

हाँ, वह तो है। लेकिन एक ज़रा-सी तल्ख़ बात आपकी रचनाओं को ले कर मेरे मन में कई बार उठी है। यदि आप अन्यथा न लें तो कहूँ।

बे-झिझक !

आपकी रचनाओं में स्त्री का कोई स्वतन्त्र और सामर्थ्यवान रूप सामने नहीं आता। लगता है, जैसे स्त्री आपके उपन्यासों में एक घरेलू उपकरण बन कर रह गयी है। आपके इतने उपन्यास हैं, कोई भी नारी मन पर गहरा असर नहीं डालती।

पढ़े भी हैं या ममता के शब्द दोहरा दिये हैं। यह आपत्ति तो उसी की लगती है।

उसी की समझ लीजिए !

लेकिन दूसरों के मन पर नहीं छोड़ पाती, यह तुम कैसे कह सकते हो। मेरी फ़ाइलों में अनेक पाठकों के पत्र पड़े हैं, जिनमें मेरे उपन्यासों और नाटकों के नारी पात्रों को सराहा गया है। एक पत्र तो अभी कुछ ही महीने पहले 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के सहकारी सम्पादक श्री केजरीवाल ने लिखा। वे कलकत्ता गये हुए थे। उनके पिता का देहावसान हो गया था। वहाँ कहीं मेरा उपन्यास 'गर्म राख' उनके हाथ लग गया। उपन्यास की नायिका सत्या जी के यथार्थ चरित्र की उन्होंने तारीफ़ की है, तुम स्वयं कभी आ कर पढ़ लेना। तुम कैसे कह सकते हो कि मेरे उपन्यासों की नारियाँ पाठक पर कोई असर नहीं छोड़तीं।

लेकिन वर्तमान सामाजिक सन्दर्भों में नारी की दुर्दशा को रेखांकित करने की बजाय आपने अपने उपन्यासों के जगत में उसके बारे में पुरुषवादी रवैया अपनाया है।

तुमने मेरा सारा साहित्य पढ़ा है...

बेशक।

'निमिषा'...

'निमिषा' में तो आपका दृष्टिकोण स्त्री के बारे में और भी पुरातनपन्थी है। जब आपका उपन्यास साप्ताहिक में धारावाहिक रूप से छप रहा था, तभी मैंने पढ़ा था। उसमें कुछ ऐसे प्रसंग हैं, जिन्हें पढ़ कर बहुत ग़ुस्सा आता है।

ग़ुस्सा तो आयेगा ही, क्योंकि आप लोग कटु यथार्थ का सामना नहीं करना

चाहते। ज़िन्दगी की जिन हकीकतों से मैं पर्दा उठा देता हूँ, लोग उन्हें छूने से भी डरते हैं।

'निमिषा' में नारी के प्रति आपका दृष्टिकोण...

'निमिषा' में प्रमुख नारी पात्र एक मॉडर्न नारी है। यह अलग बात है कि वह विमेंज़ लिब ऐसे नारों से नहीं जुड़ी है। उसे छोड़ो--'गर्म राख' की दुरो के बारे में तुम क्या कहोगे ? उसे कैसे व्याख्यायित करोगे ? निमिषा हो या दुरो--वे सशक्त, स्वतन्त्र, अपनी किस्मत बनाने वाली, ज़िन्दगी की तमाम असमानताओं से जूझने वाली नारियाँ हैं। नारी के विभिन्न रूप--जैसे कि हमारे निम्न-मध्यवर्गीय समाज में है--मेरी रचनाओं में भी मिलते हैं। वहाँ राजी है तो रानी भी है, चन्दा है तो चम्पा भी है, नयना है तो रत्ना भी है, सरिता है तो गोपा भी है। पति या प्रेमी को परम्परागत रूप से प्रेम करने वाली नारियाँ हैं तो अपनी इयत्ता की रक्षा के लिए घर-द्वार छोड़ कर निकल जाने वाली विद्रोही युवतियाँ भी हैं। ये सब रूप हमारे समाज में विद्यमान हैं। जो रूप अच्छा लगता है, उसे मैं रेखांकित कर देता हूँ। फिर एक और बात है, मेरे सामने हमेशा बुनियादी समस्या भी रहती है।

बुनियादी समस्या कह कर आप समाज में नारी की नारकीय स्थिति के प्रति तटस्थ नहीं हो सकते। 'गोखरू' आदि कहानियों में आपने नारी के साथ और अन्याय किया है।

जैसा मैंने उसे देखा, वैसा चित्रित किया होगा, यह भी हो सकता है कि उसके कृत्य के मनोविज्ञान की खोज में उन नतीजों पर पहुँचा होऊँ और मैंने उन्हें रेखांकित किया हो। हमारे सामान्य अथवा असामान्य व्यवहार के पीछे हमारे मन का कोई-न-कोई तार उलझा रहता है। उसे सुलझाने की कोशिश में जो रूप मेरे सामने आया होगा, मैंने वही उकेरा होगा। बिलकुल उसी तरह, जैसे 'अंकुर' के अन्त में।

आपके जीवन में सामर्थ्यवान औरतें नहीं आयीं।

सामर्थ्यवानों को भी चित्रित किया है। इतने तो नाम गिनाये हैं--दुरो, चम्पा, गोपा, मोना, रत्ती, निमिषा--और भी अनेक होंगी। लोग पढ़ते नहीं और एकाध रचना देख कर फ़ैसला दे देते हैं। नारी के बारे में ये पंक्तियाँ देखो--मेरी बुनियादी विचार-धारा को रेखांकित करती हैं :

तुम हो सुभगे
मेरी सहचरि, मेरी मन्त्रिणि
मेरे कर्म-क्षेत्र की संगिनी
पग-से-पग
कन्धे-से-कन्धा
सदा मिला कर चलने वाली

तुमसे तो यह आशा है यदि
धर्म-क्षेत्र के कर्म-क्षेत्र में
आये भाग्य वीरगति मेरे
तो तुम मेरे गिरते कर से
ध्वजा छीन कर
आँसू पी कर
होंट भींच कर
कदम बढ़ाती सैन्य पंक्ति के
पग-से-पग कन्धे-से-कन्धा
सतत मिलाती बढ़ती जाओ।

मैंने बहुत लिखा है। कहीं किसी एकाध पुरानी कहानी का उदाहरण दे कर मेरे विचारों को रेखांकित करना उचित और न्याय-संगत नहीं है। मेरे समग्र साहित्य से जो भाव निकलता है, उसी से मेरे विचार जाने जा सकते हैं।

□ □

अश्क जी, आपने कृष्णा सोबती, बलवन्त सिंह और निर्मल वर्मा के उपन्यास पढ़े, इधर मनोहर श्याम जोशी के उपन्यास 'कुरु करु स्वाहा' की बड़ी चर्चा है। राजेन्द्र यादव ने उसे पिछले वर्ष का सब से अच्छा और सबसे बुरा उपन्यास कहा है। क्या आपने पढ़ा ?

सुना भी और पढ़ा भी !

क्या मतलब, किससे सुना ?

जोशी से, जब वह लिख रहा था, तीन-चार परिच्छेद सुने थे। बाद में पढ़ा भी।

कैसा लगा ?

सारे उपन्यास का मतलब क्या है, उद्देश्य क्या है, उपन्यास के नाम का मतलब क्या है, यह सब तो मेरे पल्ले नहीं पड़ा, पर पढ़ते हुए दो-एक परिच्छेदों को छोड़ कर उपन्यास अच्छा लगा ?

जब न मतलब कुछ समझ में आया, न उद्देश्य, तो अच्छा क्या लगा ?

लेखक का अद्भुत हास्य-व्यंग्य; भाषा पर उसका विलक्षण अधिकार; विभिन्न भाषाओं के सम्वाद; एक बिगड़े जीनियस शायर ख़लीक और उसके परिवेश का घोर यथार्थवादी चित्रण; एक पगले जीनियस बंगाली फ़िल्म डायरेक्टर रथिजित भट्टाचार्य द्वारा जोशी के पटकथा सार को अपने शब्दों में अपनी व्याख्या के साथ आलो दा को सुनाना; गुण्डों द्वारा जोशी को पीटे जाना, पहुँचेली के फ़ालिज-मारे भगवान की इच्छानुसार जोशी जी का केवल एक तौलिया बाँध कर पूजा कराना और पहुँचेली को समय पर न मिल कर उसे गाड़ियों में व्यर्थ ढूँढते फिरना ! ये तमाम परिच्छेद उपन्यासकार ने कथा कहने वाले के तीन स्तरों--पत्रकार मनोहर श्याम, इण्टलेक्चुअल लेखक जोशी जी और भावुक ब्राह्मण बालक मनोहर का अद्भुत निर्वाह करते हुए, पात्रों के नख-शिख, उनकी भाव-भंगिमाओं, उनकी भाषा, उनके लहजे का कुछ ऐसी हास्य-व्यंग्य भरी शैली में चित्रण करते हुए लिखे हैं कि भयंकर आनन्द की सृष्टि होती है और जोशी की अतुल प्रतिभा की दाद दिये बिना नहीं रहा जा सकता। वर्षों पहले मैंने जोशी की कहानी 'एक दुर्लभ व्यक्तित्व' पढ़ी थी। तभी मैं उनके व्यंग्यकार की प्रतिभा का कायल हो गया था। इतनी सारी प्रतिभा इण्टलेक्चुअल किस्म के कुछ इलीट पाठकों को मनारंजन के कुछ क्षण देने के सिवा किसी और काम नहीं आयी, इस बात का ज़रूर खेद है।

आम पाठक उपन्यास में रस नहीं ले सकता ?

शायद नहीं। ख़ासुलखास भी उसे पूरी तरह एन्जॉय नहीं कर सकते, जब तक़ उन्होंने तन्त्र साहित्य न पढ़ा हो (क्योंकि उपन्यास के काफ़ी हिस्से में तन्त्र की चर्चा है और नायिका शायद तन्त्र-सिद्ध है अथवा ऐसा आभास मिलता है); संस्कृत का पूरा ज्ञान न हो (क्योंकि ढेरों श्लोक बिना हिन्दी अर्थों के उपन्यास में दिये गये हैं); यूरोप के डिकेडेण्ट तथा अन्य कवियों-कथाकारों-उपन्यासकारों को न पढ़ रखा हो (क्योंकि इलियट, लॉरेंस डरेल, बोर्ख़ेस, रिल्के, कामू, काफ़्का और न जाने अन्य किस-किस पश्चिमी कवि और लेखक का ज़िक्र उपन्यास में है और न जाने उनकी काव्य-पंक्तियों के कितने सन्दर्भ हैं); बंगला, मराठी, गुजराती, पंजाबी भाषाओं का प्रचुर ज्ञान न हो (क्योंकि इन भाषाओं के डायलाग बिना अर्थों के दिये गये हैं); फ़िल्मी गीतों ओर फिल्मों के बारे में भी काफ़ी पता न हो (क्योंकि उनका भी प्रचुर उल्लेख नावल में है।) जब विशिष्ट पाठक तक इतने सारे ज्ञान से लैस नहीं होता तो सामान्य पाठक किस खेत की मूली है। फिर 'कुरु कुरु स्वाहा' के पाठक से इस बात की भी अपेक्षा है कि उसे गालियों, कुरुचिपूर्ण शब्दों, मुहावरों, वाक्यांशों और वीभत्स दृश्यों से भी परहेज न हो !

इस सबके बाद पाठक को उपन्यास में कुछ मिलेगा भी ?

शायद महज़ आनन्द ! अद्भुत हास्य-व्यंग्य ! तमाम पवित्र भावनाओं और धारणाओं के प्रति एक डिबंकिंग सिनिसिज़्म और भयंकर प्रतिभा के ज्वालामुखी का उद्देश्यहीन विस्फोट !--जिसमें सोना, चाँदी, लोहा, ताँबा, तेल-सना लिसलिसा कीचड़--सब कुछ होगा। काश, जोशी ने अपनी भयंकर प्रतिभा के प्रदर्शन के साथ किसी महान उद्देश्य को भी उपन्यास में समोया होता ! अब तो लगता है शैलेश मटियानी से बढ़ कर वीभत्स दृश्यों के चित्रण, ज्ञानरंजन से बढ़ कर गालियों और बोल-चाल के अश्लील मुहावरों और वाक्यांशों के प्रयोग और निर्मल वर्मा से बढ़ कर विलायती शराबों और लेखकों-कवियों और उनकी काव्य-पंक्तियों के आकलन से उन तीनों के साथ, फ़िल्मी प्रोड्यूसरों, गीतकारों, लेखकों और छद्म बौद्धिकों की अपने शब्दों में उसने 'समझे न वो कर दी है।' कभी-कभी सोचता हूँ--जोशी ने अपनी इतनी-सारी प्रतिभा इन लेखकों को नीचा दिखाने या उनका मज़ाक उड़ाने या एक प्रति हज़ार या लाख पाठकों के लिए मनोरंजन के कुछ क्षण जुटाने की बजाय कोई सरल उपन्यास लिखने में लगायी होती, जिसमें निन्यान्बे प्रतिशत पाठक भी रस ले सकते तो कितना अच्छा होता ! जोशी प्रतिभाशाली है। वैसी चुनौती महसूस करता तो शायद लिख लेता, पर वह अज्ञेय, निर्मल, सर्वेश्वर, रघुवीर, दूधनाथ सिंह आदि की मानसिकता का कलावादी लेखक है। वैसा कोई सरल-सीधा-सोद्देश्य उपन्यास लिखना उसे अपनी प्रतिभा के नीचे का काम लगता होगा। यद्यपि है नहीं। कभी उसने वैसी चुनौती महसूस की तो उसे पता चल जायगा।

अश्क जी, आपके उपन्यासों के बारे में जोशी की क्या राय है ?

इस प्रश्न का यहाँ क्या अवसर है ?

यों ही पूछा है !

इसका उत्तर तो जोशी ही दे सकता है। मैंने कभी पूछा नहीं। उसका उपन्यास पढ़ता हूँ तो लगता है, अच्छी नहीं होगी।

अश्क जी, आप लेखक कैसे हैं, यह तो मैं नहीं कह सकता, पर आप पाठक बहुत अच्छे हैं। अपने से एकदम भिन्न लेखकों की रचनाओं को इतने मनोयोग से पढ़ सकते हैं, उनमें रस पा सकते हैं, उनकी चर्चा कर सकते हैं...

मैंने कहा न कि मेरे पिता ने मुझे इसकी शिक्षा...

उनकी शिक्षा का यों पालन करने के लिए आप प्रशंसा के अधिकारी है।

वह अंग्रेज़ी में कहा जाता है न, वी शुड थैंक गौड फ़ॉर स्मॉल मर्सीज़ ! सो इस अनुकम्पा के लिए मेरा आधार लो !

इधर आपने क्या लिखा है और आजकल क्या लिख रहे हैं या लिखने की सोचते हैं ?

कुछ ही महीने पहले 'चेहरे : अनेक'' का तीसरा खण्ड पूरा किया है। जिन्होंने पढ़ा है, वे कहते हैं--बहुत ही भयानक और बेबाक है। मैं सिर्फ़ यही सफ़ाई दे सकता हूँ कि जो लिखा है, सच लिखा है, कृष्ण या कमलेश्वर की तरह संस्मरण को कल्पना का संस्पर्श नहीं लगने दिया। अभी कृष्ण की जीवनी (जीवनी क्या, कुछ संस्मरण) 'आधे सफ़र की पूरी कहानी' छपी है। अपने बारे में उसने इतनी झूठी बातें लिखी हैं कि अब क्या कहूँ। उन दिनों मैं भी दिल्ली में उसके साथ था, इसलिए सच तो जानता ही हूँ। अपने बारे में लिखूँ या दूसरों के बारे में, संस्मरणों पर मैं झूठ या कल्पना का रंग नहीं चढ़ाता और स्वयं कोई गुनाह किया है तो नहीं छिपाता, न मानव के नाते अपने किसी अन्य दोष पर पर्दा ही डालता हूँ। 'चेहरे : अनेक' का तीसरा खण्ड पढ़ कर एक मित्र ने कहा--'अश्क जी, इस बार आपको जूते पड़ेंगे !' लेकिन पुस्तक तो लिखी गयी, छप भी गयी है, परिणाम जो सामने आयेंगे, उन्हें भी भुगत लूँगा।

तभी तो मैंने कहा था कि 'चेहरे : अनेक' लिख कर आप साहित्य-क्षेत्र में महाभारत छेड़ना चाहते हैं और पूछा था कि आप रचना-धर्मिता का रास्ता छोड़ कर साहित्य की छीछालेदर पर क्यों उत्तर आये हैं ?

मैं उसे 'क्यों' का उत्तर देने जा रहा था कि तुम बहस को मेरी प्रतिशोधप्रियता की ओर मोड़ ले गये। जो वहाँ नहीं कहा, अब कहता हूँ। मुझे अपनी बात कह लेने देना, फिर कुछ कहना, वरना तुम्हारा यह प्रश्न अनुत्तरित रह जायेगा।

कहिए !

आर्टिस्ट के कर्म के बारे में मैंने पहले शॉ की एक उक्ति दी थी। उसी के अन्त

में उसने सच्चे कलाकार के उद्देश्य को ले कर जो बात कही है, ज़िन्दगी के अपने लम्बे अनुभव से मैं भी उसी नतीजे पर पहुँचा हूँ। शॉ ने लिखा है :

'सच्चे कलाकार का उद्देश्य हमारा वैसा चित्रण करना है, जैसे कि वास्तव में हम हैं। उसे हमारे बारे में जो ज्ञान है, उससे परे हमारे मन की कोई सत्ता नहीं है, और जो कलाकार उस ज्ञान मे रंच मात्र भी इज़ाफ़ा करता है, वह उसी तरह एक नये मानस का सृजन करता है, जैसे नारी एक नये पुरुष का।'

पहली बात तो यह है कि इस उद्धरण के 'हम' शब्द में लेखक भी आते हैं, क्योंकि लेखक भी इंसान हैं, और सच्चे कलाकार का कार्य-क्षेत्र इंसानों के बीच है। फिर मैं समझता हूँ कि सच्चा कलाकार, यदि उसके पास दृष्टि है, दूसरों को ही उनकी यथार्थता नहीं दिखाता और इस तरह ही मानव-मनोविज्ञान में इज़ाफ़ा नहीं करता, वरन् वह अपने अन्तस में गहरे उतर कर उसे भी उघाड़ता है। जो अपने मन में गहरे ग़ोता लगा कर उसके सत-असत को ऊपर ला सकता है, वही दूसरों के अन्तस्तल में झाँक उनकी यथार्थता उसे दिखा सकता है। ऐसी एक अच्छी रचना दूसरी हज़ार अच्छी रचनाओं के मुकाबिले में श्रेयस्कर है।

'चेहरे : अनेक' की संस्मरण-माला मैं इसी उद्देश्य से लिख रहा हूँ और यदि मैं सच्चाई और दयानतदारी से बिना अपने आपको बख़्शे, बिना अपने दुर्गुणों, त्रुटियों और कमज़ोरियों पर कला या कल्पना का ओप चढ़ाये अपने किरदार की हकीकत ब़यान कर देता हूँ तो वह चित्र कितना भी विरूप, वीभत्स या भयानक क्यों न हो, मैं समझता हूँ कि मैं कलाकार के नाते अपना कर्तव्य निभाता हूँ और मेरे चरित्र के आइने में दूसरे भी अपने चरित्रों का जायज़ा ले सकते हैं और इस तरह मानव के ज्ञान में यदि मैं रंच मात्र भी इज़ाफ़ा करता हूँ तो ग़लत नहीं करता।

आप अपने बख़िए उधेड़ें, इसमें किसी को क्या आपत्ति हो सकती है, पर जब आप दूसरों के...

यदि मैं जंगल में अकेला होता तो शायद वैसा सम्भव था, पर एक मनोवेत्ता की उक्ति का सहारा लूँ तो कहूँ कि मैं अकेला नहीं हूँ, मैं हज़ारों-हज़ार खण्डों में बँटा हुआ हूँ और ये खण्ड सभी दूसरे लोग हैं। वे, जिनसे मैंने मुहब्बत की। वे, जिनसे मैंने नफ़रत की। वे, जो वास्तव में मेरे जीवन पर गहरे नक्श छोड़ गये। वे, जिनसे केवल ऊपरी परिचय रहा--और मेरा समग्र व्यक्तित्व उन सब की कुल जमा है, एक-दूसरे से धन किया हुआ, ऋण किया हुआ, गुणा किया हुआ, विभाजित किया हुआ--और इस सब के बाद जो चरित्र बनता है, वह मैं हूँ।... अब यदि ऐसे चरित्र को खण्ड-खण्ड में देखने-दिखाने की कोशिश करता हूँ तो यह बताओ कि उन मित्र-परिचितों का चित्रण किये बिना कैसे सम्भव है।

मैंने दो खण्ड पढ़े हैं, लगता है कि आप प्रतिशोध की भावना से लिख रहे हैं।
प्रतिशोध हो या प्रतिक्रिया अथवा अन्य उद्रेक--साहित्य की कसौटी के बारे में मैं पहले अपनी बात कह चुका हूँ। उसे अब दोहराऊँगा नहीं। लिखने का उद्रेक कैसे हुआ, पाठक या आलोचक को इसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। साहित्य कैसा उतरा, यही देखना चाहिए ! फिर एक दूसरी बात भी है, मैंने आज तक अपने निम्न-मध्यवर्गीय परिवेश का अत्यन्त बारीक और सार्थकता-भरा चित्रण किया है। और इस प्रक्रिया में अपने सगे-सम्बन्धियों, मित्र-परिचितों, अपनी गली-मुहल्ले, बाज़ार-शहर को नहीं बख़्शा--इस उद्देश्य से कि वहाँ जो गर्हित है, सड़ रहा है, उसे बदल दिया जाय। मेरे सारे लेखन का एकमात्र उद्देश्य यह रहा है कि मैं अपने पाठकों को उनके परिवेश की यथार्थता दिखाऊँ ताकि वे झूठी ज़िन्दगी न जियें, झूठे और न पूरे होने वाले सपने न बनायें। यदि वे ज़िन्दगी की यथार्थता जान कर सपने देखेंगे, आदर्श बनायेंगे तो ज़रूर ही उन्हें पूरा कर ले जायेंगे। लेकिन सहसा पचास वर्ष तक लिखते रहने के बाद मेरे सामने सवाल आया कि क्या इतने भर से मेरा काम पूरा हो गया ? क्या मेरे पाठक उतने भर से अपनी यथार्थता जान लेंगे ? और मुझे लगा कि नहीं, मैंने इस प्रक्रिया में एक बहुत बड़ी गुफा को छोड़ दिया है, वह जो मेरा अपना मन है, अपना आप है, उसे उधेड़ कर पाठकों के सामने रख कर भी मैं उन्हें अपने अन्दर झाँकने वाली दृष्टि दे सकता हूँ। और मैंने 'चेहरे : अनेक' लिखना शुरू किया, लेकिन जैसा कि मैंने कहा, चूँकि मैं लेखक-समाज का अंग हूँ और लेखक-समाज की यह अलिखित मिली-भगत रही है कि वह अपने कलम से समाज और उसके विभिन्न अंगों--दुकानदारों, क्लर्कों, अफ़सरों, समाज सुधारकों, राजनीतिज्ञों, चोर-उचक्कों, ठगों, डाकुओं, मज़दूरों, किसानों, ऊँचे और निचले तबके के लोगों का कटु-यथार्थता भरा चित्रण करेंगे, लेकिन अपने आपको साफ़ बख़्श जायेंगे--अज्ञेय हों या यशपाल, बच्चन या कृष्ण चन्द्र जहाँ-जहाँ उन्होंने अपने बारे में लिखा है, बहुत-सी झूठी नाटकीय बातें लिख गये हैं। जैसा कि मैंने ज़िक्र किया 'आधे सफ़र की पूरी कहानी' में कृष्ण ने लिखा है कि वे अलीपुर रोड, दिल्ली में रेडियो स्टेशन के दफ़्तर से एक दिन सख़्त गर्मी में पसीने से तर पैदल ही घर जा रहे थे कि अचानक एक कार उनके पास रुकी। उसमें रेडियो के कण्ट्रोलर-जनरल श्री बुख़ारी बैठे थे--उन्होंने कहा--'आइये कृष्ण जी, मैं आपको घर छोड़ आऊँ।' और कृष्ण ने लिखा है कि उन्होंने इन्कार कर दिया। बुख़ारी साहब ने लाख कहा पर वे कार में नहीं बैठे। फिर एक जगह लिखा है कि मथुरा और कुरुक्षेत्र की ओ. बी. के बाद बुख़ारी साहब आये और लगे बमकने और कृष्ण उनसे पौन घण्टा बहस करते रहे और उन्होंने उन्हें लाजवाब कर दिया। अपने आपको महिमा-मण्डित करने के लिए कृष्ण ही ऐसे अफ़साने गढ़ सकते थे, जिन्होंने एक भी सच्चा संस्मरण नहीं लिखा। मण्टो तो बुख़ारी साहब के साथ वह

हरकत कर सकता था। मानता हूँ। लेकिन कृष्ण इतने बड़े कायर थे कि सपने में भी वैसा नहीं कर सकते थे। मथुरा की ओ.बी. में मैं भी गया था। उसके बाद मीटिंग में बुख़ारी साहब आये थे और निहायत कड़े शब्दों में उन्होंने बताया था कि ओ. बी. क्या होती है, हमें उसका कोई इल्म नहीं। मैंने कुछ सफ़ाई देने की कोशिश की, तो कृष्ण ने हाथ उठा कर मुझे बरज दिया। वहीं उसी मीटिंग में अपने ध्यान में गुम मेरे दाँतों से चिड़िया की चूँ-चूँ की बोली निकल गयी। अचानक बुख़ारी साहब छत की ओर देखने लगे कि चिड़िया कहाँ से आ गयी। कृष्ण का हाथ बरजने के अन्दाज़ में मेरी ओर बढ़ गया। सौभाग्य से बुख़ारी छत की ओर देख रहे थे। कुछ ऐसा सन्नाटा खिंच गया कि मैं एकदम सतर्क हो गया।... और कृष्ण ने लिखा है कि वे पौन घण्टे तक बुखारी से बहस करते रहे।

... ऐसे ही प्यारे झूठ बच्चन ने अपनी जीवनी 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' में लिखे हैं।' चूँकि बच्चन ने उसमें लिखा था कि उनकी कविता 'वह पगध्वनि मेरी पहचानी' प्रकाशवती पाल पर लिखी थी और वह कविता मुझे पसन्द थी, इसलिए इस रहस्योद्घाटन के लिए मैंने उस किताब की प्रंशसा की थी। लेकिन बच्चन ने उस प्रसंग में अपने कुछ नितान्त झूठे प्रेम-प्रसंग लिखे हैं। एक सुबह प्रकाश भाभी लखनऊ से आयीं और उन्होंने मुझे एक फ़ोटो दिखाया। उसमें भाभी और श्रीकृष्ण दो कुर्सियों पर बैठे थे और पीछे दो युवकों के साथ निहायत ही मनहूस सूरत लिये हुए बच्चन खड़े थे। उस ज़माने में वे एक साधारण स्कूल टीचर थे और ४०) मासिक पाते थे। पतली-छरहरी भाभी उस चित्र में इतनी सुन्दर लगती थीं कि बच्चन की उन कविताओं का उत्स समझ में आता था, भाभी ने बच्चन की ओर संकेत करते हुए कहा--क्या तुम कल्पना कर सकते हो कि मैंने इसकी ओर आँख उठा कर भी देखा होगा। हालाँकि भाभी ने मुझे कितने ही मसौदे दिखाये, जिसमें बच्चन ने अपनी हर किताब का मसौदा श्रीकृष्ण को भेंट कर रखा है और अपनी ओर से ही नहीं, अपनी पत्नी श्यामा की ओर से भी रागात्मक भूमिकाएँ लिखी हैं, लेकिन वे सब न छाप कर यदि प्रकाश भाभी वह चित्र छाप दें तो बच्चन ने अपनी पुस्तक में कितने बड़े झूठ बोले हैं, पाठकों पर सिद्ध हो जायें। भाभी बहुत उद्विग्न थीं और चाहती थीं कि उस सब सामग्री के बल पर मैं सच्ची बात लिखूँ। मैं लिख भी देता। लेकिन उन दिनों यशपाल के और मेरे सम्बन्धों के बीच थोड़ा-सा तनाव था। मैंने भाभी को किसी तरह समझा-बुझा कर शान्त किया और उनसे कहा कि यशपाल मुझसे कहेंगे तो मैं इस सामग्री के बल पर सच्ची बातें लिख दूँगा। पर मैं जानता था--यशपाल कभी तैयार न होंगे। और मेरा ख़याल सही था। शाम को लखनऊ से भाभी का फ़ोन आ गया कि यशपाल नहीं मानते। जैसा कि मैं यशपाल को जानता हूँ, वे बच्चन को अपने मुकाबिले में कहीं छोटा समझते थे और उनके ओछे वार का जवाब

देना उन्हें स्वीकार नहीं हुआ। यदि बच्चन और प्रकाश भाभी में कोई सम्बन्ध होगा भी, जो ऐन सम्भव है तो यशपाल इतने मॉडर्न थे कि उन्होंने उस पुराने किस्से को अपने और उनके बीच नहीं आने दिया होगा।

मैं समझता हूँ कि जीवनी लिखनी हो तो यथाशक्य सच लिखना चाहिए, वरना अफ़साने और उपन्यास तो हैं ही। आदमी को कल्पना का समावेश करना हो तो वहीं करना चाहिए। मैंने अभी 'चेहरे : अनेक' के तीन खण्ड लिखे हैं। अब तो इस वर्ष 'गिरती दीवारें' का पाँचवा और अन्तिम खण्ड लिखना शुरू करूँगा और तीन एक वर्ष तो उसे ख़त्म करने में लग ही जायेंगे। लेकिन यदि उपन्यास बीच में रुक गया अथवा उसके बाद यदि उम्र और शक्ति ने मेरा साथ दिया (जिसकी मुझे उम्मीद नहीं लगती) तो मैं इतनी ही बारीकी से पन्द्रह खण्ड लिखता जा सकता हूँ। मैंने बहुत ज़िन्दगी देखी है। भगवान ने नज़र मुझे बहुत गहरी दी है और उसी नज़र से मैंने ज़िन्दगी का गहरा अध्ययन किया है। मैंने ज़िन्दगी को उलट-पलट कर देखा है। ज़िन्दगी का मैंने उत्खनन किया है--जैसे कि पुरातत्वशास्त्री पुराने शहर का करते हैं। लोगों को दोस्त बना कर देखा है, दुश्मन बना कर देखा है, फिर दोस्त बना कर देखा है और इस प्रक्रिया में इंसान की विभिन्न प्रवृत्तियों का अध्ययन किया है। अपने साहित्यिक परिवेश का कुछ भी मुझसे छिपा नहीं। और जो मैंने देखा है, वही मैं लिखता हूँ। हाँ, यह ख़याल रखता हूँ कि दूसरों की बुराइयाँ दिखाता हूँ तो अपनी नहीं छिपाता। यदि तुम ज़िन्दगी को जानना चाहते हो तो मेरी चीज़ें पढ़ो, वरना झूठ तो दस तरह का लोग लिखते-पढ़ते ही रहते हैं। कुछ वर्ष पहले दिल्ली में डॉ. नगेन्द्र मिल गये। मैंने कहा, "मेरी नयी किताब पढ़ी ?" कहने लगे, "तुम्हें नहीं पढ़ता, तुम साहित्य नहीं लिखते, गालियाँ देते हो।" मैंने कहा, "आज के ज़माने में सच गाली हो गया है। तुम्हें सत्य पढ़ना और जानना है तो मेरी रचनाएँ पढ़ो और झूठ तो तुम लोग पढ़ते-लिखते रहते ही हो।"

एक छोटी-सी बात और पूछना चाहता हूँ। लेखन के अलावा भी आपका कोई और शौक है ?

था।

जैसे।

मुझे कैरम खेलना बहुत पसन्द रहा है। पिंगपाँग भी।

इनडोर गेम्ज़ !

पिंगपाँग इनडोर गेम नहीं, फिर मुझे बैडमिण्टन भी बहुत पसन्द रहा। हॉकी भी मैं ख़ूब खेलता था।

हॉकी भी ?

हाँ, हॉकी भी, गतका भी और लाठी चलाना भी सीखता था। हॉकी खेलते-खेलते

तो मैं अपनी एक आँख ही लगभग गँवा बैठा था। लाठी का वार बचाना जानता था, इसलिए एक बार इलाहाबाद में किरायेदार लाठियाँ ले आये तो न मैं सिर्फ़ बच गया बल्कि लाठी छीन कर और उसी प्रक्रिया मे पैंतरा बदल कर मैंने एक प्रतिद्वन्द्वी की पिंडली के पिछले हिस्से पर वार भी कर दिया। थाने में जा कर ही छुट्टी हुई। वह भी इसलिए कि मुझे हल्का बुख़ार था और मेरी पतली-छरहरी, सींकिया काया को देख कर थानेदार को विश्वास हो गया कि लाठी चलाना तो दूर, मैं उसे उठा भी नहीं सकता। लेकिन इधर वर्षों से सब कुछ छूट गया है। जैसे चेतन रूप से बहुत-सी यारियाँ छोड़ दीं, ये शौक भी छोड़ दिये।

इसका मतलब है, लेखन के अलावा आपके मनोरंजन का कोई साधन नहीं ?

मनोरंजन तो अब क्या होगा। उम्र घट गयी है। शक्ति क्षीण हो गयी है। मैं क्लासिक्स फिर से पढ़ने लगा हूँ। शॉ के बहुत-से नाटक पढ़ गया हूँ।

शॉ आपको बहुत पसन्द है; पहले भी आपने उनका ज़िक्र किया।

शॉ मेरा प्रिय नाटककार नहीं है। न गॉल्ज़वर्दी मेरा प्रिय नाटककार है। मेरे प्रिय नाटककार हैं चेख़व, स्ट्रिंडबर्ग, मैतरलिंक, पिरेन्देलो, इब्सन, ओ'नील !

मॉडनर्स में।

इओनेस्को, ब्रेष्ट, एन्यूहे।

बैकेट नहीं।

नहीं।

शॉ में आपको क्या मिलता है ?

जैसा कि मैंने पहले कहा, ज़िन्दगी की हकीकतों का निर्मम और व्यंग्य-भरा उद्घाटन ! शॉ को पढ़ना चाहिए ज़िन्दगी के सूत्रों के लिए। ज़िन्दगी की पकड़ उसकी बहुत गहरी है। वास्तव में तमाम महान लेखकों के पास अपना कुछ होता है, जो दूसरे का नहीं होता और उसी अपने कुछ के लिए सादर उनके हुज़ूर में जाना चाहिए। तुम ही कहते हो कि दुनिया नाराज़ कर ली है। तब अकेले तो पड़ ही गये हैं। ऐसे में क्लासिक लेखकों का संग जो सुख-सन्तोष देता है, झूठे मक्कार, समय-साधक और स्वार्थी मित्रों का साथ नहीं देता। सो मैं उन्हीं में रम जाता हूँ। जाने कितना कुछ लिखने को और उससे कहीं ज़्यादा पढ़ने को है और उमर तो ख़त्म हो गयी है।

अश्क जी, आपका वक्त तो बहुत लिया है, पर आपने पंजाबी बैत सुनायी, हिन्दी कविता सुनायी, आप तो उर्दू ग़ज़ल भी कहते हैं, क्यों न एक ग़ज़ल के साथ इस समालाप की समाप्ति करें।

सरे तसलीम ख़म है जो मिज़ाज-ए-यार में आये। एक ताज़ा ग़ज़ल सुनो। उम्र बीत गयी है, इसलिए हस्बे-हाल है। तो मतला अर्ज़ किया है।

इरशाद !

वो दिन होगा जहाँ कि गम न होंगे
वो दिन, जब इस जहाँ में हम न होंगे

वाह ! यह तो हफ़ीज़ होशियारपुरी की एक मशहूर ग़ज़ल की ज़मीन पर है।

उसी के एक मिसरे पर गिरह लगायी है, सुनो--

ये नूर-ो नार-ो नग़मा[१] सब रहेंगे
तेरी दुनिया में लेकिन हम न होंगे

सिर्फ़ 'महफ़िल' की जगह 'दुनिया' कर दिया आपने।

क्योंकि मुख़ातिब महबूब नहीं ख़ुदा है। ज़रा यह शे'र देखना--

इरशाद !

फ़कत यह जानने में उम्र गुज़री
वो कैसे और कब बरहम[२] न होंगे

वाह !

और यह--

झुके होंगे जो उनके आसताँ[३] पर
वो कोई और होंगे हम न होंगे

वाह वा वाह ! क्या अहं है, वो कोई और होंगे हम न होंगे।

मेरी तारीफ़ तुझ से करने वाले
अदू[४] होंगे मेरे हमदम न होंगे
इलाहाबाद वालो याद रखो
करोगे याद हमको हम न होंगे

इलाहाबाद से आपको बहुत शिकायतें हो गयी हैं।

झूठी नहीं हैं। इलाहाबाद में मैंने जितना सहा है, किसी दूसरे शहर में नहीं सहा। और मकता सुनो--

चले हैं 'अश्क' इकबाल-ए-गुनह को
गुनाह उनके मगर यूँ कम न होंगे।

वाह वा ! लेकिन अश्क जी 'चेहरे : अनेक' लिखने के बाद भी नहीं ?

। अपने सारे गुनाह कभी कोई लिख सकता है, मुझे सन्देह है।

□ □

---

१. गुस्से २. रोशनी, आग और संगीत, ३. दहलीज़ ४. शत्रु

हमारा आलोचना साहित्य

अन्वेषण की सहयात्रा	उपेन्द्रनाथ अश्क
हिन्दी कहानी : एक अन्तरंग परिचय	,, ,,
हिन्दी कहानियां और फैशन	,, ,,
हिन्दी नाटक और रंगमंच	,, ,,
हिन्दी शब्दों की विकास कथा	डा० देवेन्द्र कुमार जैन
हिन्दी के समस्या नाटक	डा० विनय कुमार
निराला आत्महन्ता आस्था	दूधनाथ सिंह
आलोचना और साहित्य	डा० इन्द्रनाथ मदान
उपन्यासकार अश्क	,, ,,
कामायनी : मूल्यांकन और मूल्यांकन :	,, ,,
गोदान : मूल्यांकन और मूल्यांकन :	,, ,,
निराला की कविताएँ	डा० परमानन्द श्रीवास्तव
नयी कविता का परिप्रेक्ष्य	,, ,,
कालिदास का प्रकृति चित्रण	निर्मला उपाध्याय
नाटककार अश्क	सम्पादित
रघुराम नागर कृत समासार नाटिक	डा० प्रभात
सम्पर्क भाषा हिन्दी और शिक्षण	लक्ष्मी कुट्टी अम्मा
भोजपुरी और हिन्दी का तुलनात्मक व्याकरण	डा० शुकदेव सिंह
कबीर बीजक	,, ,,
भारतीय काव्य चिन्तन	डा० राजेश्वर दयाल सक्सेना
हिन्दी साहित्य का इतिहास	डा० प्रतापनारायण टंडन

अश्क की चार महत्वपूर्ण कृतियां

बेदी : मेरा हमदम मेरा दोस्त

'बेदी : मेरा हमदम मेरा दोस्त 'उर्दू के सुप्रसिद्ध कथाकार राजेन्द्र सिंह बेदी का जायज़ा है जिसमें अश्कजी ने राजेन्द्र सिंह बेदी के साथ अपनी चालीस साल की दोस्ती का एक अन्तरंग चित्र पेश किया है। बेदी के बारे में समय-समय पर लिखे संस्मरणों के साथ इस पुस्तक में बेदी की कहानियों पर अश्कजी का लम्बा समीक्षात्मक लेख और अश्कजी के साथ बेदी की लम्बी ख़तो-किताबत में से चुन कर संकलित किये गये पत्र भी शामिल हैं जो इस पुस्तक को एक अतिरिक्त महत्व प्रदान कर देते हैं।

कहानी के इर्द गिर्द

सशक्त नये कथाकारों द्वारा लिये गये ये इन्टरव्यू पूरी अन्तरंगता के साथ अश्क के विवादग्रस्त विचारों, आग्रहों, पूर्वग्रहों, ज़िदों और व्यक्तित्व की व्यग्र जीवन्तता को पाठकों के सामने तद्वत पेश करते हैं। तीखे निर्भीक सवालों के उत्तर में अश्क के सच्चे और तेज़ जवाब पाठकों को गहराई से सोचने पर विवश करते हैं।

आमने सामने

प्रस्तुत संग्रह के हर समालाप में केवल बात ही नहीं अन्तरंग मुलाकात भी है—ऐसी मुलाकात, जो साहित्य और समाज, काव्य कहानी नाटक और उपन्यास साहित्य में सुन्दर और असुन्दर उदात और हास्यस्पद, नैतिक और अनैतिक श्लील और अश्लील—अनेकानेक समस्याओं की गिरहें खोलती है और साहित्य के रसास्वादन में पाठक का पथ प्रशस्त करती है।

गिरती दीवारें : दृष्टि प्रतिदृष्टि

डयूक विश्वविद्यालय डरहम (अमरीका) के हिन्दी प्राध्यापक रमेश शौनक के प्रश्नों तथा अश्क जी द्वारा दिये गये उत्तरों का यह सम्पादित प्रारूप अश्क जी के वृहद उपन्यास 'गिरती दीवारें' के तीन खण्डों—गिरती दीवारें, शहर में घूमता आईना और एक नन्हीं किन्दील—की विषय वस्तु, शिल्प रचना-प्रक्रिया और भाषा-शैली का सर्वांगीण प्रमाणिक और प्रासंगिक अन्वेषण प्रस्तुत करता है।